प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
साहित्य कुञ्ज, आगरा।



तृतीय बार
१०००

सन् १९५६



मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

विषय सूची

आमत्कथा

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझा कर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास,
देखो करते ही करते हैं अपना व्यङ्ग मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की !
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की ?
छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा ?
अभी समय भी नहीं, थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

प्रसादजी की जीवन कथा

प्रसादजी का जन्म माघ शुक्ला १२, १६४६ को ऐसे कुल में हुआ था, जहाँ कहावत है—सोने की कटोरी में दूध-भात खाते हैं। सुँघनी साहु का घराना काशी में मशहूर है। वैश्य हलवाई समाज के बाहर भी इस घराने की खूब मान-प्रतिष्ठा है। पितामह बाबू शिवरत्न ने जरदा, सुरती और तम्बाकू से कारोबार को बढ़ाकर खूब धन और यश पैदा किया, साथ ही दोनों हाथों से दान भी देते रहे। उनकी दानशीलता की कहानी अब भी काशी के बड़े-बूढ़ों की जबान पर है। कहते हैं, सब लोग साक्षात होने पर महादेव' शब्द उच्चारण कर उनका स्वागत करते थे। यह प्रतिष्ठा काशी-नरेश को छोड़ कर और किसी को प्राप्त नहीं। साहु शिवरत्न के सुपुत्र बाबू देवीप्रसाद ने अपने पिता और वंश की प्रतिष्ठा कायम रक्खी। उनके दो लड़के हुए—ज्येष्ठ शम्भुरत्न और कनिष्ठ जयशङ्कर।

जयशङ्कर का बचपन खुशहाली में बीता। अपने बाद के जीवन में प्रसादजी अपने बाल-काल की स्मृतियाँ अपने इष्ट-मित्रों को सुनाया करते थे। लेकिन पुराने वैभव को लेकर उनमें अभिमान जरा भी न था। लड़कपन में उन्हें कसरत का भी बहुत शौक था। इसीलिए अन्तिम दिनों से एक साल पहले तक उनका शरीर बहुत सुन्दर, तेजोमय और भव्य रहा। जिन लोगों ने उन्हें देखा है उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना न रहे होंगे। उन्हें घुड़सवारी से भी शौक था। वे अच्छे सवार थे। जब उनके मित्र मोटर लेकर उनके पास जाते, तो प्रसादजी कहा करते 'सवारी तो घोड़े की है'। एक सहृदय कवि जड़ मशीन से कब सन्तुष्ट हो सकता था?

जयशङ्कर की स्कूली शिक्षा अल्पकालिक रही। स्थानीय क्वीन्स कालेज में वे सातवें दर्जे तक पढ़ सके। इसी समय १२ वर्ष की

अवस्था में उन पर और उनके परिवार पर वज्रपात हुआ। पिता का स्वर्गवास हुआ। परिवार का सारा भार ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्न पर आ पड़ा। उन्होंने स्कूल में तो नहीं, घर में जयशङ्कर की पढ़ाई की व्यवस्था की। विभिन्न अध्यापकों की सहायता से जयशङ्कर ने अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृत की ओर उनकी विशेष रुचि रही। इसी समय उनमें पुरातत्व साहित्य के अध्ययन का बीजारोपण हुआ। जिसके फलस्वरूप आगे चलकर प्रसादजी ने अपने प्राचीन साहित्य सम्बन्धी ज्ञान और बौद्ध कालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद, स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन से हिन्दी साहित्य को परिपूरित किया।

१७ वर्ष की अवस्था में प्रसादजी पर दूसरी विपत्ति पड़ी। बड़े भाई का भी स्वर्गवास होगया। सारे परिवार और बड़े व्यवसाय का बोझ कोमल किशोरवय बालक पर आ पड़ा। इस समय उनके सामने दो बड़ी समस्याएँ थीं। एक ओर तो बड़े भाई की अपूर्व दानशीलता और शाहीखर्ची के कारण चढ़ा हुआ पारिवारिक कर्ज। दूसरी ओर नाबालिगपन का लाभ उठाकर कुछ स्वार्थी सम्बन्धी उनकी जायदाद हड़प करने की चेष्टा कर रहे थे। प्रसादजी ने इस सांसारिक घात-प्रतिघात द्वन्द्व और कोलाहल का साहसपूर्ण सामना किया और इसमें सफल भी हुए। सन् १६२६–३० तक उन्होंने समस्त पारिवारिक कर्ज अदा कर दिया।

जीवन यापन के इन्ही दिनों में प्रसादजी का व्यक्तित्व बना और संसार के सम्बन्ध मे उनकी विचार-धारा की सृष्टि हुई। बाद में गहन अध्ययन के कारण उनमें दार्शनिकता आ गई। इन सब बातों की छाया उनकी रचनाओं में है। यह भी याद रहे, उन दिनों आज की भाँति जनता में राष्ट्रीय जागरण न था। उस समय साधारण वर्गों में आर्यसमाजी आन्दोलन ही क्रान्ति का प्रतीक था। कहा जाता है कि आदमी के जवानी के दिनों का वातावरण उसके हृदय पटल पर अमिट रेखा छोड़ जाता है। शायद इसी कारण प्रसादजी के उपन्यासों में आर्यसमाजी क्रान्ति का धुँधला सा चित्र दिखाई देता है।

अपने बड़े भाई के जीवन-काल में ही प्रसादजी को कविता से शौक हो गया था। असमय में ही पड़ने वाली विपत्तियों ने शायद

किशोर प्रसाद के कोमल हृदय को आक्रान्त कर दिया था—उसमें टीस उत्पन्न की थी, जिसकी अभिव्यक्ति तुकबन्दियों में हुई। उस अल्हड़ जवानी में दूकान पर बैठकर प्रसादजी बहीखाते के रद्दी कागजों की पीठ पर कविताएँ लिखा करते थे। इस पर उनके बड़े भाई रुष्ट भी हुए थे, क्योंकि उनका ख्याल था कि इससे दूकान के काम में बाधा पड़ती है।

१९०७–८ के लगभग प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ संस्कृत-कवियों के अनुसरण पर, ब्रजभाषा की पुरानी शैली में हैं। इसके बाद प्रसादजी ने खड़ी बोली में लिखना शुरू किया। नई शैली की कविता लिखने वालों में प्रसादजी प्रथम हैं। उस काल में उन्होंने अपनी आँखों से नई पीढ़ी के कवियों के प्रति पुराने हिन्दी-साहित्यिकों की प्रतिक्रिया—लोकमत की क्रीड़ा देखी। उन्हीं की प्रेरणा से काशी से 'इन्दु' निकला, जिसमें उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। खेद है, 'इन्दु' असमय में ही बन्द हो गया।

प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताओं का प्रथम संग्रह 'काननकुसुम' लगभग १९११ अथवा १९१२ में प्रकाशित हुआ। उनकी अन्य प्रारम्भिक कविता पुस्तकें हैं—'प्रेम-पथिक' और 'महाराणा का महत्त्व'। इन काव्य-ग्रन्थों ने हिन्दी कविता साहित्य में उथल-पुथल मचा दी। आज प्रसादजी हिन्दी के युगप्रवर्तक कवि हैं।

प्रसादजी ने कविताएँ ही नहीं लिखी, नाटकों की ओर भी ध्यान दिया। उनका सबसे पहला नाटक 'सज्जन' है। यह अब अप्राप्य है। प्रारम्भिक नाटक में उन्होंने काव्य का ही अधिक सहारा लिया है। नाटक के सभी पात्र कविता में बात-चीत करते हैं। 'करुणालय' और 'उर्वशी' नाटक ऐसे ही हैं। इसके बाद उन्होंने यह शैली छोड़ दी। उनके बाद के नाटक खूब प्रसिद्ध हुए। कविता की भाँति प्रसादजी ने नाटकों में भी युग-परिवर्तन किया। उनके जैसा नाटककार हिन्दी में आज भी कोई नही है। प्रसादजी के अधिकतर नाटक ऐतिहासिक हैं। उनका आधार-स्तम्भ प्राचीन भारतीय सभ्यता है। प्रसादजी के प्रसिद्ध नाटकों में 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'ध्रुवस्वामिनी' गिने जाते हैं।

सन् १६११ में प्रसादजी की पहली कहानी 'ग्राम' शीर्षक से 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है। संवत् १६६६ में प्रसादजी की ५ मौलिक कहानियों का 'छाया' नामक हिन्दी का प्रथम कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ। अब 'छाया के तीसरे संस्करण में प्रसादजी की स० १६६६ से १६७५ तक लिखी हुई ११ कहानियाँ संग्रहीत हैं। कविता और नाटकों की भाँति प्रसादजी ने कहानी के क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित किया। प्रेमचन्द और सुदर्शन के बाद प्रसाद कथा-क्षेत्र में आए। उनकी कहानियाँ काफी लोकप्रिय हुईं। फिर भी कहानी-साहित्य में प्रसादजी का अपना स्थान है। ये कहानियाँ भी ज्यादातर प्राचीन भारतीय सभ्यता को प्रकाश में लाने वाली हैं। कुछ सामाजिक कहानियाँ भी हैं। प्रसादजी की कहानियों का एक संग्रह 'इन्द्रजाल' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

कुछ लोग आश्चर्य करते हैं कि किस तरह प्रसादजी व्यवसाय के साथ ही साहित्य की भी सृष्टि कर सके। इसके सिवा सस्कृत-साहित्य के अध्ययन में भी उनका काफी समय जाता था। इन सब बातों से पता चलता है कि प्रसादजी कितने कर्मशील व्यक्ति थे। गोवर्धन सराय में उनके घर पर तथा नारियल बाजार वाली उनकी दूकान पर साहित्यिकों का ताँता लगा रहता था। एक तरफ वे व्यवसाय को सँभालते थे, दूसरी तरफ साहित्यिक वार्त्तालाप का भी रस लिया करते थे। अधिकतर वे मण्डली के बीच तटस्थता का भाव ग्रहण करते थे, प्रसादजी चुपचाप सुना करते थे। बीच-बीच में अपनी मधुर मुसकान के साथ दो एक सरस बातों तथा पुरानी जीवन-स्मृतियों के साथ मण्डली को मुखरित कर देते थे।

प्रसादजी विज्ञापन से बहुत डरते थे।* 'इन्टरव्यू', 'सम्मति', विवाद ग्रस्त प्रश्नों के उत्तर—इनसे वे दूर रहते थे क्योंकि वे जानते थे कि बीसवी शताब्दी के पत्रकार कैसे तिल का ताड़ बना लेते हैं। सभाओं और कवि-सम्मेलनों में लोग उन्हें बुलाते लेकिन प्रसादजी हँस कर टाल देते। अगर कोई लेखक उनसे उनके जीवन-सम्बन्धी

* प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित प्रसादजी के पद्य मे इस कथन की पुष्टि होती है।

सामग्री की माँग करता तब भी वे मौनावलम्बन कर लेते। जो लोग उनके सम्बन्ध में लिखते थे उन्होंने कभी प्रोत्साहन का एक शब्द भी नहीं लिखा। उनकी रचनाओं के विरुद्ध लिखने वालों से भी उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा—हमेशा हँसकर उनका स्वागत किया।

प्रसादजी अपनी स्वजाति के उत्थान में योग देने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे। अपने स्वजातियों के मिलने पर इस विषय पर काफी चर्चा करते और परामर्श देते। वैश्य-हलवाई समाज की हीनावस्था पर वे बहुत दुखी थे। अशिक्षा पर तो उनकी आँखों में आँसू भर आते थे। लेकिन वे कोई काम ढिंढोरा पीटकर नही करना चाहते थे। कान्यकुब्ज वैश्य हलवाई महासभा के अखिल भारतवर्षीय अधिवेशन के सभापतित्व के लिए कई बार उनसे प्रार्थना की गई लेकिन उन्होंने सदैव असमर्थता प्रकट की। सन् २६ में आपने किसी तरह इस पद को कबूल किया लेकिन इसी समय घर में किसी के बीमार पड़ जाने के कारण वे महासभा में भाग न ले सके और थोड़े दिनों बाद सर-दारी के पद से इस्तीफा दे दिया।

सन् १६२५ में प्रसादजी की अत्यन्त प्रसिद्ध कविता-पुस्तक 'आँसू' की रचना हुई। 'आँसू' के बहुत से छन्दों की रचना बगीचे में अथवा गङ्गा के वक्षस्थल पर नाव पर हुई। रुई की मिरजई जिस पर सिंघाड़े से कटे हुए, जेब में चश्मे का केस और पेंसिल तथा पाकेट-बुक रखे हुए, ऊपर से शाल ओढ़ कर—इस तरह की वेष-भूषा में टहलते हुए कवि प्रसाद अक्सर उन दिनों 'आँसू' की पंक्तियाँ गुनगुनाया करते थे।

दिसम्बर १६३१ में प्रसादजी ने सपरिवार कलकत्ता और पुरी आदि स्थानों की यात्रा की। पुरी के समुद्र-तट पर ही उन्होंने अपनी इन सुविख्यात पक्तियों की रचना की।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे।"

इन दिनों प्रसादजी ने 'जागरण' में काफी दिलचस्पी ली। 'इन्दु' के बाद एक तरह से 'जागरण' दूसरा पत्र है, जिसके कॉलमों में प्रसादजी के व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है। पाक्षिक 'जागरण' विनोद-शङ्कर व्यास प्रकाशित करते थे। प्रसादजी उसके प्रत्येक अङ्क में कुछ मैटर दिया करते थे। 'जागरण' का नाम उन्होंने ही रखा। उसे वह

खूब फलते फूलते देखना चाहते थे। उनकी अगनित स्मृतियों के खंडहर में 'जागरण' भी दवा पड़ा है।

'कामायनी' महाकाव्य हिन्दी संसार को प्रसादजी की अन्तिम भेंट है। इसे समाप्त कर वे 'इरावती' उपन्यास लिखना चाहते थे। कामायनी रचना उनके अथक परिश्रम और अटूट अध्ययन के फल-स्वरूप है! इसे लिखकर उन्होंने श्री विनोदशङ्कर व्यास से कहा था—'कामायनी लिखकर मुझे सन्तोष है'।

१९३६ में लखनऊ में वड़ी प्रदर्शिनी हुई। वहाँ से लौटने के कुछ ही दिनों वाद २२ जनवरी को प्रसादजी ज्वर से पीड़ित हुए। ३१ जनवरी को उनके कफ की जाँच कराई गई तो पता लगा प्रसादजी को राजयक्ष्मा हो गया है। दिनों-दिन उनकी तवियत गिरती गई। प्रसादजी शायद इस भयानक रोग के अन्तिम परिणाम से भली-भाँति परिचित हो गये थे। डाक्टरों ने उन्हें वाहर जाने को सलाह दी, लेकिन उन्होंने काशी नहीं छोड़ी। कहा—जो कुछ होना होगा यहीं होगा। वीमारी के अन्तिम दिनों में उन्हें चर्म-रोग भी होगया। अव उनकी सूखी हड्डियों पर त्वचा का पतला सा आवरण मात्र रह गया था। वह सुन्दर मनोरम आकृति कितनी भयानक हो उठी थी। ९-१० नवम्वर से हालत विगड़ने लगी। एकादशी की शाम को हालत ज्यादा खराव हो गई। साँस लेने में वहुत कष्ट होने लगा। डाक्टरों ने कहा—जो कुछ कहना हो कह दीजिए। प्रसादजी ने कहा—साँस लेने में वहुत कष्ट हो रहा है। उसे दूर करने की दवा दीजिए। ४॥ वजे जयशङ्कर जी नश्वर शरीर के वन्धन से मुक्त होकर अमरों के लोक में पहुँच गये।

प्रसादजी की कविता

कुछ दिनों के बाद रीतिकाल की विरोध-भावना भी रीति-ग्रस्त हो गई। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रीतिकाल के कविवृन्द नायक, नायिका, रति, अभिसार, सापत्न्य आदि के घेरे में चक्कर लगाते रहते थे उसी प्रकार उनके विरोधी 'कविरत्न' भी देशभक्ति, जाति सुधार, महाराणा-प्रताप आदि की स्तोत्र-रचना और उसके पाठ में मग्न रहे। हृदय का साहचर्य न होने के कारण उनकी देशभक्ति निष्प्राण थी। उसमें कवित्व नही था, उधर समय के प्रभाव स्वरूप इन लोगों को सौन्दर्य से, एक प्रकार से, घृणा हो गई थी। किसी प्रकार के भी सौन्दर्य, विशेषकर नारी-सौन्दर्य का सृजन, अश्लीलता समझी जाती थी। यह वह समय था जब हिन्दी के काव्यक्षेत्र पर कविराज पं० नाथूराम शङ्कर और साहित्याचार्य द्विवेदीजी का एक-छत्र साम्राज्य था—जब छायावाद अन्धकार के गहन स्तरों में पड़ा हुआ स्वप्न देख रहा था। उन्ही दिनों आज से बहुत पहले, जब छाया-वाद के देवदूत—पन्त और निराला विद्यालयों में 'कागजी कुसुम' और 'सिगरेट क धुआँ' से खेला करते थे, एक मनस्वी कलाकार अपना रङ्गीन अद्भुत-प्रिय कल्पना और सौन्दर्यविभोर स्वस्थ भावुकता की डोरियों से इस युग का ताना बाना बुन रहा था। यह कलाकार और कोई नही हमारे प्रसादजी ही थे जिनकी सर्वतोमुखी; प्रतिभा ने आज हिन्दी को प्रत्येक दिशा में दीपक-सा जला दिया है।

कविवर प्रसाद कवि, कहानी लेखक, नाटककार, उपन्यास-प्रणेता सभी कुछ थे और सबसे पहले थे कवि। उनकी कहानियाँ कटी-छटी आख्यानमयी कविता तो हैं ही, उनके नाटक और उपन्यास भी कवित्व से परिपूर्ण हैं, परन्तु यहाँ हमें उनका विवेचन नहीं करना। यहाँ तो हमें उनके उसी साहित्यांश पर विचार करना है जो औरों

से, कारलायल (Carlyle) के शब्दों में, उसी पुराने गंवारू भेद (Old Vulgar Distinction) छन्द के कारण विभिन्न है। प्रसाद जी ने अपने छोटे से जीवन-काल में हिन्दी के काव्य-क्षेत्र को अमूल्य निधियों से आपूर्ण कर दिया। 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' के अतिरिक्त उनकी सात कविता पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। १—महाराणा का महत्त्व, २—प्रेम-पथिक, ३—करुणालय, ४—झरना, ५—आँसू, ६—लहर, ७—कामायनी। इनके अतिरिक्त उनके सभी नाटकों में अनेकों रसीले गान भरे पड़े हैं। प्रसाद का अकेला काव्य-साहित्य एक परिमाण की दृष्टि से भी किसी से कम नहीं।

प्रसादजी की कविता का क्षेत्र

जिस किसी ने प्रसादजी की कविता को एक बार भी पढ़ा होगा वह तुरन्त कह देगा कि उनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम है। उनकी भावुकता ने अधिकतर प्रेम की परिधि में ही भाँवरियाँ ली हैं। वे संसार को प्रेममय मानते हैं—उनकी धारणा है कि—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

प्रसादजी ने प्रेम के सभी अङ्गों को स्पर्श किया है—उनका प्रेम न तो केवल अतीन्द्रिय एवं अध्यात्मिक प्रेम ही है और न इन्द्रिय-लिप्सा ही। उन्होंने ऐन्द्रिय प्रेम का बहिष्कार नहीं किया। स्वस्थ ऐन्द्रिय प्रेम एक प्राकृतिक आवश्यकता है जिसका हमारे भावुक कवि ने उचित रीति से समादर किया है। उनके चित्रों में, उनके भाव-जगत में ऐन्द्रियता का काफी मान है। वे 'आँख के खेल' को भी उतना ही अनिवार्य समझते हैं जितना 'मन के खेल को'। प्रसादजी को इस बात का अनुभव है कि जीवन में एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य उन्मत्त होकर किसी को आत्म-समर्पण करने के लिए आतुर हो उठता है और उसे यह सोचने का समय भी नहीं मिलता कि हृदय किसको देना है। उस समय तो—

प्रथम यौवन मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय, चीह्नने की थी तनिक न चाह!

सुवासिनी के शब्दों में अकस्मात जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर बसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन' कह कर उसको रोकने टोकने लगता है, पुकारने लगता है। × × × फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।

देखकर जिसे एक ही बार, हो गए हैं हम भी अनुरक्त
देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त।

यह प्रेम-रूप आसक्ति है—आँख का खेल है। वृद्ध जन इसे कुछ भी कहें परन्तु युवक जीवन में इसका एक विशेष महत्त्व है—

यह रूप-आकर्षण विश्व भर में—समस्त जड़-चेतन में व्याप्त है। प्रसादजी कहते हैं कि संसार में यही एक मात्र परिचय का कारण है।

उषा का प्राची में आभास
सरोरुह का सर बीच विकास
कौन परिचय ।था क्या सम्बन्ध
गगन-मण्डल में अरुण-विलास।

देखिए हमारे आदि पुरुष मनु की श्रद्धा का रूप सौन्दर्य्य पान कर क्या दशा हुई थी। श्रद्धा की रूप-ज्वाला कैसी थी—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल, अधखुला अङ्ग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग।

× × × ×

या कि नव इन्द्रनील लघु शृङ्ग
फोड़कर धधक रही हो कान्त,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में आश्रान्त।

उसे देख कर तपस्वी मनु का मन एक साथ विचलित हो जाता है और वे कह उठते हैं—

कौन हो तुम बसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार!

घन-तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कात
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शात।

आगे वे ही मनु मनुहारें करते हैं—

कुचल उठा आनन्द, यही लज्जा है
बाधा दूर हटाओ
अपने ही अनुकूल सुखों को
मिलने दो मिल जाओ।
और एक फिर व्याकुल चुम्बन
रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है
तृषा-तृप्ति के मिस से।

कवि के इस सौन्दर्य्य-चित्रण और रूप-आसक्ति में एक जीवन है—एक उन्मादकारी कम्पन है जो भावुक हृदयों को विभोर कर देता है। सुनिए सुवासिनी गा रही है—

आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज में कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा।
बिछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात
कौन मधु-मदिरा घोल रहा।

'प्रसादजी की भावुकता यद्यपि अश्लीलता के अस्पृश्य तट को सदैव ही बचाती रही है' फिर भी कहीं-कहीं कुछ असंयत उद्गार उनके अनुरूप नहीं हुए हैं, उदाहरणार्थ—

लगाऊँगा छाती से आज,
सुनो प्रियतम अब तुम्हें यहीं।

इसके अतिरिक्त एकाध स्थान पर फारसी-काव्य का अस्वस्थ प्रभाव भी खटकता है। यथा—

'छिल-छिल कर छाले फोड़े'

किन्तु ऐसा उदाहरण उनकी प्रारम्भिक कृतियों में ही एकाध मिलता है।

इस रूप-मोह के अतिरिक्त 'मन के खेल' की भी व्यञ्जना बड़ी ही मधुर और मादक हुई है। एक प्रकार से यही रूप मोह धीरे-धीरे मन की वस्तु हो जाता है—और प्रेमी प्रेम-पात्र के रूप का नहीं उसके व्यक्तित्व का पुजारी हो जाता है। इस प्रेम में ऐन्द्रियता नही होती—यह भावना-प्रधान (Ideal) प्रेम होता है। उर्मिला के शब्दों में—

'पहिले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे'। —साकेत

इस प्रेम में प्रेमी अपने अस्तित्व को प्रेम-पात्र के अस्तित्व में मिला देता है—उसे अपनी कोई आकांक्षा नही रहती। तब तो बस यह 'अनुनय' रहता है कि—

क्रोध से विषाद से, दया या पूर्व प्रीति ही से,
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए। —झरना

उस समय दशा बड़ी विचित्र होती है—

"वाणी मस्त हुई अपने में उससे कुछ न कहा जाता।
गद्‌गद् कण्ठ स्वय सुनता है, जो कुछ है वह कह जाता॥"

और प्रेमी आत्म-विस्मृत पूछ उठता है—

"जीवन-धन! यह आज हुआ क्या, बतलाओ मत मौन रहो।
बाह्य वियोग, मिलन या मन का इसका, कारण कौन कहो॥"

यही प्रेम बढ़ते-बढ़ते आवेग-पूर्ण हो जाता है और प्रेमी एक साथ चीत्कार कर उठता है—

चमकूँगा धूलि-कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा,
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा।

परन्तु इस प्रेम मे आत्म-निषेध की भावना सदैव रहती है—कभी-कभी प्रेमी अपनी असफलताओं को भी सफलता समझ लेता है

और प्रेम-पात्र की करुणा में ही अपूर्व आह्लाद को अनुभव कर निकलता है—

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं,
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं।
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया
प्रेम नहीं करुणा करने का, क्षण भर तुमने समय दिया।

आगे चल कर यह प्रेम लोक सीमा छोड़कर अलौकिक—दिव्य हो जाता है। यह प्रसादजी का उद्देश्य प्रारम्भ में ही था—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है, शान्त-भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं!!'

उनके इस दिव्य-प्रेम के विषय में समालोचकों की दो सम्मतियाँ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रसादजी अदृष्ट से दृष्ट की ओर आए और दूसरों की धारणा है कि वे ज्ञात से अज्ञात की ओर गए। वास्तव में कवि ने राम-कृष्ण आदि की भक्ति-विषयक रचनाएँ भी की थीं परन्तु प्राधान्य उनमें रहस्यात्मक-भावनाओं का ही रहा; उनकी वृत्ति अज्ञात में ही अधिक रमी।

देखिए कवि को उस प्रियतम की झाँकी पहली बार किस प्रकार से हुई—

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अञ्चल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए!

इसी प्रकार एक बार आँख खोल देखो तो चन्द्रालोक से

रञ्जित कोमल बादल नभ में छागए
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।

धीरे धीरे यह नशा इतना व्यापक हो जाता है कि कवि को संसार में सर्वत्र ही उस अपूर्व रूप के दर्शन होने लगते हैं—

जल-थल मारुत व्योम में छाया है सब ओर
खोज-खोज कर खोगई मैं पागल प्रेम-विभोर।

कवि बार-बार समझने का प्रयत्न करता है, आखिर यह सब वैभव किसका है—

'महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण
किसका करते-से सन्धान !
× × ×
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए।
× × ×
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?

परन्तु अन्त में वह यही कह कर चुप रह जाता है।

'हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो, क्या हो, इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम
कुछ हो ऐसा, होता भान !'

एक समय था जब आत्मा और परमात्मा सम्बद्ध थे—एकाकार थे। अब दोनों पृथक हैं परन्तु आत्मा को उस महा-मिलन का पूर्ण ज्ञान है—वह कहता है—

यह सब स्फुलिंग है मेरी
उस ज्वालामुखी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं अब भी
मेरे उस महामिलन के।

कहीं-कहीं अद्वैतवाद अधिक स्पष्ट हो जाता है—

सकल निधियों का वह आधार
प्रमाता सकल विश्व का सत्य
लिए सब अपने बैठा पास
उसे आवश्यकता ही नहीं।

परन्तु वास्तव में उनमें द्वैत भावना का ही परिचय अधिकतर मिलता है। उनके उद्गार भक्ति विषयक ही प्रायः होते हैं। कवि की अनुनय, विनय, रूप-दर्शन, समर्पण आदि की भावनाओं में भक्ति का ही संदेश है।

'प्रार्थना अन्तर की मेरी, जन्म हो निरखूँ तव सौन्दर्य,
यही जन्मान्तर की हो शक्ति, मिले इङ्गित से जीवन मुक्ति।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी ने प्रेम नामक मनोवृत्ति की पूर्ण व्यञ्जना की है—उसके सभी रूपों को अपनाया है। पं० कृष्ण-शङ्कर शुक्ल के शब्दों में 'यह प्रेम अलौकिक आलम्बन का आश्रय ग्रहण कर भक्ति में परिवर्तित हो जाता है और लौकिक आलम्बन पर स्थिर हो रतिभाव के अनुकूल पड़ता हुआ चलता है।' प्रसादजी की प्रेमव्यञ्जना में एक अपूर्व उन्माद और कम्पन है—उसमें एक ज्वाला-मुखी जलता है—उसमें एक कसक है, वेदना का तीव्र दर्शन है। प्रसाद जी की भावुकता व्यापक है, वह संसार को अपना समभागी समझती है—

धरणी दुख भोग रही थी
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
मैं देख रहा उस मुख को।

परन्तु यह वेदना प्रेम की मीठी वेदना है, निराश की कठोर यंत्रणा नहीं। घोर मानसिक व्यथा सहने पर भी कवि आश्वासन देता है—'पड़ रहे पावन प्रेम फुहार, जलन कुछ कुछ है मीठी पीर, सम्हाले चल कितनी है दूर, प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर।' क्योंकि उसे पूर्ण आशा है कि—

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा

और इसीलिए वे प्रेम की मङ्गलकारी शक्ति में विश्वास करते हुए कहते हैं कि—

घने प्रेम तरु तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।

छाया है विश्वास की, श्रद्धा सरिता कूल।
खिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल।

प्रसादजी और प्रकृति

आरम्भ में यही प्रेम-तत्त्व प्रसादजी को प्रकृति की ओर ले गया था—और फिर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "प्रकृति के द्वारा प्रेम और प्रेम के द्वारा प्रकृति पर उनकी अधिकाधिक दृष्टि पड़ती गयी। × × × साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने ही सर्व प्रथम उदय होते हुए तारों और खिलती हुई कलियों के सौन्दर्य को देखा और पहचाना।" यह पहिला कवि था जिसने बढ़ती हुई भौतिकता पर सर्व प्रथम असन्तोष प्रकट किया था और प्रकृति के वैभव की ओर संकेत किया था।

नील नभ में शोभित विस्तार,
प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
नर-हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ;
बात जँचती कुछ नहीं यथार्थ।

प्रसादजी प्रकृति के प्रति सदैव एक तीव्र आकर्षण का अनुभव करते रहे। उन्होंने प्रकृति का जड़ और निर्जीव सौन्दर्य कभी नहीं देखा—उन्होंने उसके अन्तर में एक सजीवता का अनुभव किया है और उसके स्पन्दनों से अपने हृदय की धड़कन का स्वर मिलाया है। प्रकृति के चन्द्रिका-स्नान, रागरञ्जित रूप को देखकर कवि उन्मत्त हो जाता है—और उसका वर्णन करते-करते आत्म-विभोर हो उठता है। कुछ वर्णन देखिए। प्रकृति का हँसता हुआ चित्र देते हुए, उसके शब्द स्वयं ही किस प्रकार हँसने लगते हैं—

उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद-विकास नये सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंग-पराग॥
नेत्र निमीलन करती मानों, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
जलधि लहरियों की अँगड़ाई, बार बार जाती सोने॥

सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी;
प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में, मान किए सी ऐंठी-सी।

काम के प्रभाव से मानव-जगत ही नहीं प्राकृतिक जगत भी आकुलित हो उठता है। कवि कहता है—

जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी ? सच कहना !!
भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए।

उनकी प्रकृति विषयक अनुभूति कितनी प्रखर है। इसका एक उदाहरण लीजिए—कामायनी में मनु रात्रि से कहते हैं—

किस दिगन्त रेखा में इतनी
सचित कर सिसकी सी साँस
यों समीर मिस हाँप रही-सी
चली जा रही किसके पास !

सायँ-सायँ करती हुई नीरव रात्रि का वर्णन कितना सच्चा और भावपूर्ण उतरा है। प्रसादजी के प्रकृति-चित्रों में मधु और माधुरी का स्रोत बह रहा है। उसमें सोना चाँदी, गुलाली और नीलिमा की अपूर्व छटा है। उनके चित्र मुसकराते नही हँसते हैं—उनके सभी चित्रों में एक आकुल कम्पन है।

मधु बरसती विधु-किरन है काँपती सुकुमार।

उन्होंने यद्यपि प्रकृति के सुन्दर रूप का ही अङ्कन अधिक किया है—परन्तु उनका सुन्दर विराट रूप भी है। उनके चित्रों में विस्तार है, व्यापकता है, और गौरव-गरिमा की भावना है। देखिए प्रलय का दृश्य—

लहरें व्योम चूमने उठतीं
चपलाएँ असख्य नचतीं

गरल जलद की खड़ी झड़ी में
बूँदें निज संसृति रचतीं।
चपलाएँ उस जलधि-विश्व में
स्वयं चमत्कृत होती थीं
ज्यों विराट बाड़व-ज्वालाएँ
खंड खंड हो रोती थीं।

प्रसादजी की रहस्य-भावना कभी-कभी प्रकृति में प्रियतम का प्रतिबिम्ब भी देखकर मग्न हो जाया करती है। उसे अनुभव होता है—

छायानट छवि-परदे में
सम्मोहन बीन बजाता
सन्ध्या-कुहुकिन-अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता।

सारांश यह है कि प्रसादजी ने "प्राकृतिक वस्तु का प्रेम तत्त्व से सम्मिश्रण करके, प्रकृति पुरुष का संयोग का मन्थन कराया है और प्रकृति की विस्तृत विभिन्नता को प्रेम-तत्त्व से सन्निहित करके देखा है। उनके प्रारम्भिक प्रकृति चित्र सांकेतिक अधिक होते थे। अतः उनका तो इतना महत्त्व नहीं परन्तु जहाँ इन दोनों का (प्राकृतिक वस्तु और प्रेम तत्त्व का उचित सामञ्जस्य हुआ है) वहाँ प्रसादजी का काव्य अत्यन्त मानवीय और उन्नत हो उठा है।"

कवि ने प्रकृति का साधारण रूप में कभी वर्णन नहीं किया है—उनका हृदय सदैव उसे मानवी भावनाओं से आकुलित अनुभव करता रहा। हाँ, प्रकृति का आपने अपनी अलङ्कार सामग्री के लिए उपयोग सदैव किया है। प्रकृति प्रसादजी के अलङ्कार उपकरणों की अक्षय निधि है। 'पुष्पों की पंखड़ियों के सुकुमार कंपन, पुष्करिणी के कमल-दल की उल्लास पूर्ण क्रीडाएँ, पक्षियों के विविध क्रीड़ा कौतुक, उषा की स्निग्ध अरुणिमा आदि प्राकृतिक रमणीय उपादान आपके अप्रस्तुत विधान के सहायक होते हैं। आपके भावक्षेत्र की परिधि का विस्तार इतना अधिक होता है कि प्राकृतिक रमणीय दृश्यों में से साम्य की प्रतिष्ठा के लिए सामग्री प्रस्तुत करते समय आपको कंजूसी नहीं करनी पड़ती। एक-एक प्रसङ्ग प्राप्त दृश्य के लिए अनेक रमणीय अप्रस्तुत आकर खड़े हो जाते हैं। कामायनी की श्रद्धा के रूप-वर्णन

में प्राकृतिक वैभव का विलास है; उसके एक-एक सौन्दर्यावयव के वर्णन के लिए कवि प्राकृतिक राशि-राशि रूप विभव एकत्रित कर देता है। श्रद्धा की मुसकान माधुरी देखिये—

और उस मुख पर वह मुसकान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम !!

छवि का विलास कितना मादक है। अमूर्त भावनाओं की व्यञ्जना के लिए प्रसादजी के पास प्राकृतिक उपकरणों का अक्षय भण्डार है। देखिये विषाद का चित्रण आपने किस प्रकार प्राकृतिक उपमाओं के सहारे किया है—

कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥
अखिल विश्व के कोलाहल से, दूर सुदूर निभृति निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में, कौन जङ्गली बैठा मन में॥

वही प्रेमतत्त्व जीवन के कठोर आघातों से विरक्ति का भाव धारण करता गया और कवि 'शून्य हृदय मे प्रेम जलद-माला कब फिर घिर आवेगी' कहता कहता एक साथ पुकार उठा 'सरल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी।' यह विरक्ति की भावना कवि के आशावाद में किसी प्रकार का असामञ्जस्य उत्पन्न नहीं करती। ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में सदैव आया करते हैं जब वह बिम्बसार की भाँति सोच उठता है—

चञ्चल सूर्य, चन्द्र है चञ्चल,
चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चञ्चल अनिल, अनल जल थल सब,
चञ्चल जैसे पारा हैं।
जगत-प्रगति से, अपने चञ्चल
मन की चञ्चल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चञ्चला जैसी
यह परिवर्तनशीला है।

× × ×

क्षणिक सुखों को स्थायी कहना,
दुःख मूल यह भूल महा ।
चञ्चल मानव क्यों भूला तू
इस साठी में सार कहाँ ?

वास्तव में वैराग्य ही जीवन की चरम परिणति है—परन्तु निषेधात्म (Nagative) वैराग्य नही, साधनात्मक वैराग्य जिसका दूसरा नाम विश्वप्रेम और मूलमन्त्र करुणा है। करुणा का चमत्का प्रसादजी के शब्दों में ही सुनिये—

गोधूली के रागपटल में स्नेहाञ्चल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्त बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बून्द भर लाती है॥
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

यही जहाँ तक मैं समझता हूँ प्रसादजी के दर्शन का सारतत्त्व है और उन्हें यह करुणा और विश्वप्रेम की भावना कदाचित् बौद्ध दर्शन के मनन से प्राप्त हुई है। मैंने अभी सकेत किया कि प्रसादजी दार्शनिक कवि हैं। यह इसलिए नहीं कि उनका अपना एक दर्शन विशेष है। परन्तु इसलिए कि वे विचार-प्रधान कवि हैं। जीवन के गहनतम विचार उनकी रचनाओं में गुम्फित रहते हैं। उनकी कामायनी में तो इसका परम विकास मिलता है। वास्तव में महाकवियों की गौरव-कसौटी उनकी भाषा, उनकी अलङ्करण-सामग्री और उनकी कोरी भावुकता नही, वरन् जीवन के चिरन्तन सङ्घर्षों और राग-विरागों को पहिचानने और सुलझाने की उनकी शक्ति ही है। इसी कारण वाल्मीकि, शेक्सपीयर, गेटे, तुलसी, टैगोर आदि विश्व-वन्द्य महाकवि हैं। प्रसादजी ने जीवन के इन विश्वव्यापी सङ्घर्षों को समझा है, उनकी गहन विवेचना की है। विश्व क्या है इसका गम्भीर विवेचन मनु से सुनिये—

यह नीड़ मनोरथ कृतियों का
यह विश्व कर्म रंग-स्थल है;

है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।
वे कितने ऐसे होते हैं
जो केवल साधन बनते हैं;
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध सूत्र से बुनते हैं।

जीवन की समस्या पर जब मनु अटक जाते हैं और कहने लगते हैं—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय ! लिया है देख नहीं सन्देह।
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह॥

तो श्रद्धा की शीतल वाग्धारा कातर विश्व को आश्वासन देती है।

"जिसे तुम समझे थे अभिशाप

× × ×

विषमता की पीड़ा से ग्रस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्,
यही सुख-दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।"

× × ×

तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा, सो रहा आशा का आह्लाद।

आगे चलकर श्रद्धा ने जो भाव, कर्म और ज्ञान तीनों क्षेत्रों की भावपूर्ण व्याख्या की है वह दिव्य है, अभूतपूर्व है। वह प्रसादजी को एक दम विश्व-कवियों में स्थान दिला देती है। इन मनस्तत्त्वों का इतना कवित्वपूर्ण वर्णन संसार साहित्य में कदाचित् ही कहीं मिले। यहाँ दर्शन और कविता का सामञ्जस्य पूर्णरूप से हुआ है। कवि की सांकेतिक काव्य सामग्री और मूर्ति-विधायनी कल्पना ने अरूप में एक साथ दिव्य रूप भर दिया है।

देखिये आपके सन्मुख वही भाव-क्षेत्र दिखाई पड़ रहा है—

'वह देखो रागारुण है जो ऊषा के कन्दुक-सा सुन्दर;
छायामय कमनीय कलेवर भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।"

'शब्द, स्पर्श रस रूप गंध की, पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ,
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों रूपवती रङ्गीन तितलियाँ।'

× × × ×

घूम रही है यहाँ चतुर्दिक, चल चित्रों सी संसृति छाया;
जिस आलोक बिन्दु को घेरे, वह बैठी मुसक्याती माया।
भाव चक्र यह चला रहा है, इच्छा की रथ-नाभि घुमाता;
नवरस भरीं अराएँ अविरल, चक्रपाल को चकित चूमतीं।
यहाँ मनोमय विश्व कर रहा, रागारुण चेतन उपासना;
माया-राज्य! यही परिपाटी, पाश बिछाकर जीव फँसाना।

× × × ×

भाव भूमिका इसी लोक की, जननी है सब पाप पुण्य की,
ढलते सब स्वभाव प्रतिकृति बन, गल ज्वाला से मधुर ताप की।

एक झाँकी श्यामल कर्मलोक की देख लीजिए—

मनु, यह श्यामल कर्मलोक है, धुँधला कुछ कुछ अंधकार-सा,
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूमधार-सा।

× × × ×

श्रममय कोलाहल, पीड़न-मय, विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है, प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

× × × ×

नियति चलाती कर्म-चक्र यह, तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणिपाद-मय पंच-भूत की, यहाँ हो रही है उपासना।
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता, कोलाहल का यहाँ राज है,
अन्धकार में दौड़ लग रही, मतवाला यह सब समाज है।

उपरोक्त वर्णन में कवि ने आधुनिक संसार के संघर्ष की सजीव व्याख्या की है जो स्वयं बोल रही है।

आगे ज्ञानलोक की आभा है—

प्रियतम! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है, सुख-दुख से है उदासीनता,
यहाँ न्याय निर्मम चलता है, बुद्धि चक्र जिसमें न दीनता।
अस्ति नास्ति का भेद निरंकुश करते ये अणु तर्क युक्ति से,
ये निस्संग, किन्तु कर लेते, कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।

× × × ×

अपना परिमित पात्र लिए ये, बूँद-बूँद वाले निर्झर से;
माँग रहे हैं जीवन का रस, बैठ यहाँ पर अजर-अमर से-।

× × × ×

यहाँ अछूत रहा जीवन रस, छूओ मत सचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा, तृषा! मृषा, वंचित होने दो।

अन्त में इस त्रिपुर दाह श्रद्धा की स्मित ज्वाला के द्वारा कराकर कवि इस विषम समस्या को हल कर देता है। वास्तव में मनु और श्रद्धा की इस कहानी में मानव जीवन के मनस्तत्त्व की विवेचना पूर्ण रूप से हुई है और श्री नन्ददुलारे के शब्दों में 'मानस का ऐसा वास्तविक विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों बाद हुआ है।'

क्षेत्र-विस्तार

जो कुछ अब तक प्रेम, प्रकृति और दर्शन के विषय में कहा गया है, उससे प्रसादजी की भावुकता पर थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य पड़ा होगा। परन्तु हमारे कवि की भावुकता इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती। उनका क्षेत्र विस्तृत है। यहाँ अधिक न कह कर इस विषय के दो तीन उदाहरण ही देना पर्याप्त होगा। कामायनी में एकाध स्थान पर वात्सल्य की भी बड़ी मधुर व्यञ्जना हुई है—

"माँ—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी को जलने को धधक उठी बुझती धूनी!

× × × ×

मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं;
पके फलों से पेट भरा है, नींद नहीं खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

एक उदाहरण कवि की देशभक्ति भावना का और देकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करता हूँ। प्रसादजी भारतवर्ष के अतीत गौरव के

ओत प्रोत मिलती हैं। उनकी आत्मा अपने मातृ भूमि के शब्दों में प्रायः गाया करती है—

"हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम पुञ्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम सङ्गीत।
× × × ×
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-सन्तान।
जिएँ तो सदा इसी के लिए यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर करदें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।"

कला

प्रसादजी—जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ—स्रष्टा हैं। वे मौलिक कलाकार हैं। दूसरों के निर्दिष्ट पथ पर चलना उन्हें कभी पसन्द नही आया और प्रारम्भ से उन्होंने अपनी सृजनात्मक कल्पना, अन्तर्ग्राहिणी भावुकता, और रङ्गीन दृष्टि द्वारा अपना एक नवीन पथ निर्माण किया है। उनकी कला, उनकी शैली अपनी ही है। प्रसादजी की कला की, अन्य सभी महान कवियों की भाँति सबसे प्रमुख विशेषता उनकी चित्रमयता है। उनकी कल्पना इतनी रङ्गीन एवं अन्तर्वीक्षण-शक्ति इतनी सजग होती है कि प्रत्येक भावना प्रत्येक वस्तु का चित्र उनके मन पर स्पष्ट रूप से उतर आता है जिसको वे अपनी कुशल व्यञ्जना-शक्ति और चित्र भाषा की सहायता से ज्यों का त्यों चित्रित कर देते हैं। प्रसादजी के काव्य में अनेकों चित्र भरे पड़े हैं। उनकी रेखाएँ पुष्ट और वर्णों के विकास भास्वर हैं। साथ ही उनमें वैज्ञानिक सूक्ष्मता भी सदैव मिलेगी। देखिये एक चित्र बढ़ते हुई अँधेरी का—

वरुण व्यस्त थे घनी कालिमा,
स्तर स्तर जमती पीन हुई।

उनके मानवीय चित्रों में भी यही बात है। आदि पुरुष मनु का पौरुष मय चित्र लीजिये—

अवयव की दृढ़ माँस पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें सञ्चार।
चिन्ता कातर बदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता, भीतर मधुमय स्रोत।

आगे श्रद्धा-मुखमण्डल की आभा है—

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।

यही श्रद्धा गर्भालसा होकर कैसी हो जाती है—

केतकी-गर्भ सा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका-सी लिए देह!
मातृत्व बोझ से झुके हुये
बँध रहे पयोधर पीन आज,
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर ताज।

प्रसादजी की कल्पना साधारण से साधारण वस्तु का अङ्कन कितने वैभव के साथ कर देती है इसका एक उदाहरण देखिये। श्रद्धा तकली घुमाती हुई काली ऊन की पट्टी वना रही है। कवि उसका वर्णन करता है—

'सीने की सिकता में मानो
कालिन्दी बहती भर उगास,
स्वर्गङ्गा में इन्दीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास।

इसी प्रसङ्ग में एक छवि इड़ा के सांकेतिक चित्र का भी अवलोकन कर लीजिये। कवि की सांकेतिक पदयोजना द्वारा इड़ा का

चित्र अत्यन्त सजीव और मूर्तिमान हो गया है—यहाँ पर उसकी कल्पना की मूर्ति-विधायनी शक्ति की क्रीड़ा देखिए—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वल तम शशि-खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल,
गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल था एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान,
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस-सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए,
त्रिवली थी त्रिगुण तरङ्ग मयी, आलोक वसन लिपटा अराल,
चरणों में थी गति भरी ताल।

अमूर्त भावनाओं का भी कुशल कलाकार ने स्थान-स्थान पर बड़ा सजीव अङ्कन किया है। लज्जा का वर्णन कवि करता है—

वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुये;
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुये।

× × ×

किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु-धार ढरे?

इस प्रकार की (myth Making) मूर्ति निर्माण-विधि का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। झरना में 'विषाद' का चित्र भी ऐसा ही है। यह विशेषता अंग्रेजी कवि शैली में प्रमुख रूप से पाई जाती है। उन्होंने भी ऐसे अनेकों चित्र खींचे हैं। शीतकाल का वर्णन उनका ऐसा ही है—

For winter came : The wind was whip :
One choppy finger was on his lip

× × × ×

इनमें भाषा की व्यञ्जनाशक्ति और मूर्तिमत्ता की सहायता रहती

है। निम्नलिखित पंक्तियों में मूर्त चित्र द्वारा सौन्दर्य की विभूतियों का वर्णन व्यंग्य है—

तुम कनक किरन से अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस कन ढरते—
हे लाज भरे सौन्दर्य्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि की गुञ्जारों में,
मधु-सरिता सी यह हँसी तरल,
अपनी पीछे रखते हो क्यों?

इन पूर्ण चित्रों के अतिरिक्त प्रसादजी के काव्यों में रेखा चित्र अथवा शब्द चित्र भी अनेकों बिखरे मिलेंगे। इनमें चित्र व्यक्त नहीं व्यंग्य होंगे अर्थात् शब्दों द्वारा उसका अङ्कन तो नहीं होगा परन्तु फिर भी वस्तु का चित्र मन पर स्पष्ट उतर आएगा। दो एक का अवलोकन कीजिए—

१—निर्जन गोधूली-प्रान्तर में, खोले पर्ण-कुटी के द्वार।
दीप जलाये बैठे थे तुम, किए प्रतीक्षा पर अधिकार॥

यहाँ 'दीप जलाये बैठे थे'—और 'किए प्रतीक्षा पर अधिकार' इन दो वाक्यांशों द्वारा पाठकों के मन पर सुनसान बीहड़ में बैठे हुए व्याकुल चित्त किन्तु बाहर से शान्त और संयत वियोग का चित्र साफ प्रतिबिम्बित हो जाता है।

२—'कालिमा घुलने लगी घुलने लगा आलोक' इस एक रेखा से प्रसादजी ने हटते हुए बादलों और निरखती हुई चाँदनी का कितना स्पष्ट चित्र खींच दिया है।

एक शब्द-चित्र (One Word-Picture) भी उनके काव्य में स्थान-स्थान पर जड़े हुए मिलेंगे। प्रलय की आँधियों का एक चित्र देखें—

अरी आँधियो! ओ बिजली की
दिवा-रात्रि! तेरा नर्तन?

बिजली की दिवा रात्रि ! चित्रोपमता की पराकाष्ठा है !

सचित्र विशेषण इस युग की काव्य-कला की एक विशेषता है। कविवर पन्त में इस कला का चरम विकास मिलता है। प्रसादजी के विशेषण भी बड़े ध्वनिमय, व्यञ्जक और सचित्र हैं। उनमें भाषा की शक्ति और कल्पना का सयम मिलता है। चिन्ता के कुछ विशेषण लीजिए—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प सी मतवाली,
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल रेखा।
× ×
अरी व्याधि की सूत्रधारिणी।

नक्षत्र के लिये कवि ने 'तम के सुन्दरतम रहस्य।' अनन्त की गणना आदि बड़े भव्य विशेषण दिए हैं। इसी प्रकार रजनी का 'इन्द्र-जाल जननी।' विशेषण कितना व्यञ्जनापूर्ण है। ये विशेषण कहीं तो चित्रमय होते हैं, जैसे 'बिजली की दिवारात्रि।' कहीं कल्पना प्रधान, जैसे उपर्युक्त समस्त उदाहरणों में—और कहीं भावुकता की विभूति होते हैं—जैसे मनु श्रद्धा से कह उठते हैं 'कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज।' मनु का हृदय एकाकीपन के भार से आक्रान्त था, उसमें एक विप्लव था जो किसी शीतल वाग्धारा की खोज में था। श्रद्धा को उन्होंने इसी रूप में पाया। भावुकता कितनी संकेतपूर्ण है।

अब एक दृष्टि-पात प्रसादजी की अप्रस्तुत योजना पर और कर लिया जाय। प्रसादजी का प्रकृति निरीक्षण बड़ा विस्तृत है—उनकी अलङ्करण सम्पत्ति बड़ी विशद है। वे प्राकृतिक क्षेत्र से नवीन से नवीन उपमानों का बिना किसी कठिनता के चयन कर लेते हैं—साथ ही प्राकृतिक व्यापारों का भी उनके अप्रस्तुत विधान में काफी योग है। इसका विवेचन पहले ही कर चुका हूँ। प्रसादजी ने प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य विधियों का सुन्दर समन्वय किया है। दो एक उपमाओं के नमूने देखिए। मनु कहते हैं—

१—आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अङ्क का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ !

२—किरण की उपमाएँ कितनी व्यञ्जक हैं—
धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती सी तुम कौन !

३—प्रतिमा में सजीवता-सी बस गई सुछवि आँखों में।

कहीं-कहीं शैली की भाँति प्रसादजी मूर्त वस्तुओं के स्पष्टीकरण के लिए अमूर्त उपमाएँ प्रस्तुत करते हैं—

'बढ़ने लगा विलास वासना-सा, वह नीरव जल सञ्जात !'

निम्न पंक्तियों में रूपक का बड़ा ही सचित्र प्रयोग हुआ है। उसमें कवि की चित्र-ग्राहिणी कल्पना का महत्त्व प्रकट होता है—साथ ही श्लेष, उपमा, रूपक आदि का प्रयोग भी पुरानी दृष्टि से श्लाघ्य है !

समय विहग से कृष्णा-पक्ष में रजत-चित्र-सी अङ्कित कौन ?
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके ! बोलो कुछ बैठो मत मौन !

प्रसादजी ने अपने नवीन ढङ्ग से भी कुछ अलङ्कार-योजना की है—

विकसित सरसिज वन वैभव, मधु ऊषा के अञ्चल में,
उपहास करावे अपना जो हँसी देखले पल में।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य अलङ्कारों का प्रयोग भी नवीनता के साथ किया गया है। विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण आदि अलङ्कार कवि की अभिव्यञ्जना शक्ति और भाषा की वक्रता-वैभव बढ़ाते हैं।

१—यह मूर्छित मूर्छना आह-सी निकलेगी निस्सार !
२—यह दुर्बल दीनता रहे उलझी चाहे फिर ठुकराओ।

मानवीकरण—'मेरी यात्रा पर लेती थी नीरवता अनन्त अँगड़ाई' आदि शत-शत उदाहरण हैं।

यह तो रही चित्रमयता की बात। अब सङ्गीत माधुरी का भी रसास्वादन करलें। प्रसादजी नाटककार हैं—उन्हें नृत्य और गीत का व्यावहारिक ज्ञान है। साथ ही उनकी छन्द योजना बड़ी विचित्र और पूर्ण है। उन्होंने ही छन्दों को सबसे पहले अपने ढङ्ग से रचना

की थी। उनकी गीतियाँ स्वर और लय पर नृत्य करती हैं—कहीं-कहीं नृत्य के साहचर्य के कारण शब्दों में एक विचित्र गति आ जाती है। यद्यपि उनकी छन्द-रचना में पन्तजी की-सी कला नहीं मिलती, परन्तु उनमें अपनी एक विशेष सङ्गीतमय बिछलन है। कवि ने भिन्न-भिन्न छन्दों का सफल प्रयोग तो किया ही है; साथ ही बहुत से छन्दों के सम्मिश्रण से उन्होंने भावों की गति के साथ सामञ्जस्य बैठाया है। उनके छन्द वीर भावों के साथ अकड़ कर चलते, विलास भावनाओं के साथ इङ्गितपूर्ण नृत्य करते, और व्यथा-वेदना के साथ कराहते हैं। तीनों प्रकार के उदाहरण देखिए—

१—हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त-पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो! बढ़े चलो!

२—'हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों?'
यहाँ शब्दों की गति ही इस प्रकार है कि 'क्यों' के उपरान्त एक साथ 'छम' की ध्वनि अपने आप सुनाई पड़ जाती है।

३—मीड़ मत खिंचे बीन के तार।
निर्दय अँगुली अरी ठहर जा
पल भर अनुकम्पा से भर जा
यह मूर्छित मूर्छना आह सी निकलेगी निस्सार।

इसी प्रकार जब वर्णन-धारा वेगवती होती है तो छन्दों में एक प्रवाह मिलता है। कामायनी में कवि की छन्द योजना का विलास दर्शनीय है।

भाषा

आरम्भ में प्रसादजी की 'पथरीली भाषा' बहुत दिनों तक लोगों की समझ में नहीं आई और उस पर समालोचकों के कुलिश-प्रहार निरन्तर होते रहे। इसका कारण उनकी तत्सम-प्रियता थी। उन्होंने संस्कृत की कोमल कान्त शब्दावली का प्रयोग भाषा को अलंकृत करने के लिए शुरू किया था। इसके अतिरिक्त उनकी प्रारम्भिक रचनाओं की

भाषा में लचरपन भी मिलता है—झरना की भाषा अधिक व्यवस्थित नहीं है—कहीं-कहीं व्याकरण की त्रुटियाँ भी हैं। परन्तु ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया प्रसादजी के हाथों में भाषा की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, सांकेतिकता और चित्रमयता बढ़ती गई और उसकी स्नायुएँ भी पुष्ट होती गईं। कामायनी की भाषा मधुमय शब्दों से सनी होने के अतिरिक्त प्रसंगानुकूल ओजपूर्ण और सुगठित है। उसमें 'कंकण क्वणित रणित नूपुर ध्वनि' की रुनझुन के साथ प्रलय-लहरों की झकोरें भी हैं। प्रसादीय भाषा की एक और विशेषता उसकी वक्रता और मौलिक प्रयोगों की विविधता है। सभी प्रतिभाशाली कलाकारों की तरह उन्होंने भाषा से अनुचरी की भाँति सेवा ली है। सारांश यह है कि प्रसादजी की भाषा उनके परिपूर्ण क्षणों की वाणी है—यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि उनकी काव्य भाषा में गद्यभाषा की-सी प्रौढ़ता नहीं है।

अन्त में कहना होगा कि प्रसादजी हिन्दी-जगत में अमर शक्तियाँ लेकर अवतीर्ण हुए थे। उनकी प्रतिमा सर्वथा मौलिक थी। उन्होंने साहित्य के जिस अंश को स्पर्श किया उसी को सोना बना दिया। उनका महत्त्व ऐतिहासिक तो है ही—वे एक प्रकार से आधुनिक युग के निर्माता भी हैं। उन्होंने ही सबसे पूर्व शुष्क उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह खड़ा किया—या यों कहिये कि झूठी भावुकता (Sentimentalism) के विरुद्ध सच्ची रसिकता का आदर्श उपस्थित किया। अकर्तृत्व ((passivity) के युग में आत्मव्यञ्जना (subjectivity) की पुकार करने वाले वे कवि थे। उन्होंने एक नवीन कला और नवीन भाषा हिन्दी को प्रदान की। ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त काव्य के चिरन्तन आदर्शों के अनुसार भी उनका स्थान बड़ा ऊँचा है। एक चिन्तन प्रधान व्यापक एवं करुण अनुभूति जिसमें रङ्गीन अद्भुत प्रिय कल्पना का वांछित योग रहता है उनकी अपनी विशेषता है।

मातृगुप्त के आदर्शानुसार प्रसादजी की कविता "वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण सङ्गीत गाती है। अन्धकार का आलोक से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध करना उसका मुख्य उद्देश्य है।" कामायनी का कवि हिन्दी के किसी भी कवि की समकक्षता प्राप्त कर सकता है।

कविवर प्रसाद

(प्रसादजी की कवि-कृतियों का विकास-क्रम)



कलाकार जयशङ्करप्रसादजी की प्रत्येक रचना में कवि-हृदय का स्पन्दन स्वभाव-रूप से विद्यमान है। प्रसादजी का जीवन काव्यमय था। वे एकाङ्गी थे—उनका साहित्य सर्वाङ्गीण है। जयशङ्करप्रसाद के पूरे अध्ययन के लिए उनका कवि-रूप समझना अनिवार्य है। कहानियों, नाटकों तथा उपन्यासों में उनकी काव्यात्मा अप्रकट रूप से ध्वनित हुई है।

कवि प्रसाद का खड़ी बोली कविता के विकास के इतिहास में प्रमुख स्थान है। आपकी कविता उस समय आविर्भूत हुई जिस समय हिन्दी का द्विवेदी-युग प्रारम्भ हो रहा था। यह वह युग था जब हिन्दी काव्य को ब्रजभाषा की मधुरता के सामने अपना अस्तित्व बनाना पड़ रहा था। स्वयं प्रसादजी ने सर्व प्रथम ब्रजभाषा में अपनी प्रारम्भिक कविताएँ लिखी। उन्होंने संस्कृत और बँगला से आत्म प्रेरणा पाई और हिन्दी कविता की पुरानी शैली से पृथकत्व प्राप्त किया। संवत १६६६ में प्रसादजी की ब्रजभाषा की रचनाओं का एक संग्रह 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ।

इस सग्रह में तीन बड़ी इतिवृत्तात्मक कविताओं के 'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन' और 'प्रेम-राज्य' जो कि प्राचीन कथानकों के आधार पर लिखी गई थी कुछ समस्या पूर्ति के ढङ्ग की सी कविताएँ हैं। यह सग्रह प्रसादजी के काव्य-विकास को समझने के लिए आवश्यक है, अन्यथा इसका स्वतन्त्र महत्त्व अधिक नहीं है किन्तु इनमें भी कवि की धार्मिक तथा रहस्यात्मक अभिरुचि का पता चलता है।

खड़ी बोली के क्षेत्र में, प्रसादजी द्विवेदी-युग के प्रभाव से अलग

रहे। आपकी कविताएँ भी अधिकतर 'सरस्वती' में न छपकर 'इन्दु' मासिक-पत्र में प्रकाशित होती थीं। आपकी कविताओं का दूसरा संग्रह 'कानन कुसुम' नाम से निकला। प्रसादजी ने भी मुख्यतः प्रेम तथा शृङ्गार पर ही रचनाएँ कीं परन्तु आपने ब्रजभाषा काव्य से कई विभिन्नताएं भी रखीं। प्रसादजी ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में न लेकर आलम्बन के रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न किया। प्रसादजी का संस्कृत का अध्ययन बहुत बढ़ा हुआ था। इसीलिए आपने उस समय एक नवीन पथ की ओर पैर बढ़ाया। आपने संस्कृत कवियों की ध्वन्यात्मक शैली लेकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र में अभिव्यक्ति की एक नवीन शैली प्रचलित करने का प्रयास किया। इस प्रकार प्रसादजी एक नवीन भावाभिव्यक्त शैली लेकर आगे बढ़े। आपकी कविताएँ जनता को रुचिकर प्रतीत हुईं; उसने आपकी एक नवीन शैली का अनुकरण किया।

•

प्रसादजी को साहित्यिक शुद्ध अतुकान्त कविता का जन्मदाता मानना चाहिए। आपने अतुकान्त कविता किसी साहित्यिक सिद्धान्त वश नहीं अपितु उसको अधिक स्वाभाविक तथा वार्तालाप गीति-नाट्य के योग्य बनाने के लिए ही लिखा। प्रसादजी ने अतुकान्त कविता को एकतानता (monotony) के दोष से बचाने के लिए विभिन्न छन्दों में लिखा है। उन्होंने गीति-नाट्य अथवा प्रबन्ध-काव्य में, पात्रों के वार्तालाप में प्रवाह तथा स्वाभाविकता लाने का अतुकान्त कविता द्वारा जो प्रयत्न किया उसमें वे सफल हुए तथा अन्य कवियों ने भी आपका अनुकरण किया। राय कृष्णदास के 'उपवन' तथा पन्तजी की 'ग्रन्थि' इसी अनुकरण के परिणाम हैं। आगे चलकर 'निराला' ने भी अतुकान्त गीत लिखे। प्रसादजी ने भी अपने 'लहर' नामक संग्रह में और भी कई प्रौढ़ अतुकान्त रचनाएँ लिखी। 'निराला' और 'प्रसाद' मानों एक ही कण्ठ के दो उद्गार हैं।

प्रसादजी की छोटी-छोटी अतुकांत रचनाएँ निकलीं। एक का नाम है 'महाराणा का महत्त्व'। इसमें प्रसादजी ने महाराणा प्रताप के उदार चरित्र का चित्रण बड़ी सूक्ष्मता, सरलता तथा सफलता के साथ किया है। इस ऐतिहासिक काव्य में अतुकान्त छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण इसमें कथा-प्रवाह और वाग्विदग्धता का पूरा समावेश हुआ है। प्रताप की आँखों की मुद्रा का वर्णन देखिए ;—

"दोनों आँखें उठ-उठ कर बतला रहीं।
जीवन-मरण समस्या उनमें है भरी॥"

महाराणा के उन्नत एवं पवित्र चरित्र की स्वीकृति उनके शत्रुओं के भी मुख से कराई गई है। यथा :—

"सच्चा साधक है रुपूत निज देश का,
मुक्त पवन में पला हुआ वह वीर है।"

इसी पुस्तिका में रात्रि वर्णन की ये सुन्दर पंक्तियाँ आई हैं—

"तार हीरक-हार पहन कर, चन्द्रमुख—
दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी,
शाही महलों के ऊँचे मीनार से,
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका—
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।"

"करुणालय" शीर्षक प्रसादजी की दूसरी छोटी रचना है। यह एक अतुकान्त गीति-नाट्य है और इसका कथानक वैदिक काल के पश्चात् किये गये भयङ्कर नरमेध-यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। चरित्र-चित्रण करने में कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है। केवल कथानक को सीधे ढङ्ग से सुन्दर शब्द में लिपिबद्ध कर दिया गया है। 'रोहित' और 'शुन:शेफ' के चरित्र सुन्दर बन पड़े हैं। रोहित के निम्नस्थ शब्दों में मानो स्वयं प्रसादजी ही ध्वनित हो उठे हैं :—

"चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म-मार्ग विस्तीर्ण है॥"

और भी—

"अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया
रे मनुष्य! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे
कैसे आसुर-कर्म! अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना है?"

ऐसी ही परिस्थिति में आपकी दूसरी रचना 'प्रेम-पथिक' निकली। संवत् १९६२ में प्रसादजी ने इसे व्रजभाषा में लिखा था। परन्तु संवत् १९७० में आपने उसका 'परिवर्तित, परिवर्धित, तुकान्त-विहीन' रूप कर दिया।

'प्रेम-पथिक' में अतुकान्त छन्द घनाक्षरी प्रयुक्त हुआ है उसमें प्रवाह, लय, सङ्गीत तथा ध्वनि सभी कुछ है। 'प्रसादजी' क प्रारम्भिक कविताएँ जितनी सरल हैं, बाद की उतनी ही गूढ़ तथ कठिन, "प्रेम-पथिक" के कथानक में सरल प्रेम की एक कथा है।

बीच-बीच में कवि ने सुन्दर वाक्यों द्वारा भाषा पर अपन अधिकार प्रदर्शित किया है। प्रसादजी की निम्न पक्तियाँ हमें मुग कर लेती हैं—

"पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है,
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।"

× × × ×

"नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आँसू के बूँद !
हृदय-सुधानिधि से निकले ही, सब न तुम्हें पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर-दुःखी के परम उपाय।"

× × × ×

उपर्युक्त काव्य पुस्तकें कोई विशेष महत्त्व की नही। फिर भ कवि प्रसाद का पूरा परिचय प्राप्त करने के लिए इनके सम्बन्ध. जानना इसीलिए आवश्यक है कि वे कवि के अपरिपक्व मस्तिष्क परिचय कराती हैं; दूसरे उनमें अनेकों स्थलों पर स्वतन्त्र रूप से वर उच्चकोटि की कविताएँ हैं। फिर हिन्दी की अतुकान्त कविता इतिहास में 'करुणालय' आदि रचानओं का महत्वपूर्ण स्थान क्योंकि यहीं से अतुकान्त कविता का मात्रिक वृत्तों में प्रयोग आरम होता है। उनमें गति, प्रवाह, रस, आरम्भ और अवसान सभी कुछ है

उपरोक्त छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण युग-निर्मात्री काव्य-पुस्तकों पश्चात् तो प्रसादजी का विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ। वे इतिहा से मनोवृत्तियों की ओर झुके। आगे चल कर उनकी कविताएँ इ वृत्तात्मक न होकर मनोवृत्तात्मक होती गई। बाह्य से अन्तर्ज अधिक सत्य भासित होने लगा। कवि की दृष्टि शरीर से आत्मा पहुँची।

कविवर प्रसादजी केवल अतुकान्त कविता के आरम्भकर्त्ता न थे अपितु उन्होंने हिन्दी में "छायावाद" का भी श्रीगणेश किया इस विषय की कविताएँ "झरना" में संकलित हैं। "झरना" में ह

सर्वप्रथम प्रतिभावान कवि के दर्शन होते हैं, भाषा, भाव, छन्द सङ्गीत आदि सभी दृष्टियों से 'झरना' एक अनुपम काव्य कृति है। उसमें एक युग का प्रारम्भ होता है। इसीलिए 'झरना' काव्य-इतिहास का एक स्वर्ण पृष्ठ है।

'झरना' खड़ी बोली में भावपूर्ण कविता करने का प्रथम सफल प्रयास है। यद्यपि इसमें सङ्गीत और ध्वनि-सौन्दर्य की कमी है फिर भी छन्दों की विभिन्नताएँ पुस्तक को एक स्वर होने से बचाती हैं। 'झरना' में कवि के विभिन्न समय एवं परिस्थितियों में निकले हुए स्वतन्त्र उद्‌गार हैं। प्रत्येक कविता की आत्मा में मूलतः प्रेम है। अपनी विभिन्न मनोदशाओं (Moods) और भावों की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना इस पुस्तक में की गई है। इतनी सुबोध भावात्मक कविता उस समय हिन्दी में नहीं लिखी जाती थी। इसीलिए 'झरना' आज भी हमारे लिये एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

'झरना' में कुल ४८ कविताएँ हैं। प्रत्येक में भावुकता एवं प्रेम-सूत्र दर्शनीय है। अनेकों कविताएँ बहुत ही सुन्दर तथा उच्चकोटि की हैं। स्थान-स्थान पर एक नैसर्गिक सत्ता की ओर अनिश्चित सकेत है। इसमें 'छायावाद' अपनी प्राथमिक तथा अविकसित अवस्था में विद्यमान है। कवि 'झरना' को देख कर उसके सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु—

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना,
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी॥
कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना,

वस्तु को उसकी दृष्टिगोचर संकुचित वास्तविकता में न देखकर उसमें कुछ आध्यात्मिक सकेत पाना या प्राकृतिक वस्तुओं में मानवी भावों की छाया देखना छायावाद की विषयगत विशेषताओं में से है।

इस कविता में झरना केवल जल-प्रपात न रह कर कुछ गहरा आध्यात्मिक संकेत देने लग जाता है।

कवि को 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी' का भान होता है। वह अपने काव्य-विषय से बाहर एक ऐसे छाया-लोक में पहुँच जाता है जहाँ की बात को हम सांसारिक साधारण भाषा में नहीं व्यक्त कर सकते, केवल सकेत भर कर देते हैं। ऐसे 'मूड' का चित्रण 'झरना' की अनेकों कविताओं में है।

इसी प्रकार 'किरण' शीर्षक कविता में छायावाद की झलक है। प्रसादजी के लिये 'किरण' "किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना दूती-सी" है। 'प्रकृति' में "विषाद की मूक छाया है।" इसमें हम छायावाद की शैलो को भी अधिक विकसित रूप में पाते हैं, देखिये—

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन ?

× × × ×

सुदिन-मणि-वलय विभूषित उषा—सुन्दरी के कर का सकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिखलाती प्रेम निकेत।
चपल ठहरो! कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन मन्दिर के खोलो द्वार, जगे फिर सोया वहाँ बसन्त।

इस कविता में किरण को उसके केवल भौतिक रूप से ही नहीं लिया है वरन् उसको किसी अज्ञात विश्व विकल-वेदना-दूती-सी सूर्य रूपी वलय से विभूषित उषा सुन्दरी के कर का संकेत कहा है। इसमें प्रकृति का मानवीकरण भी काफी है 'चपल! ठहरो कुछ लो विश्राम ' 'धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश' में मूर्त की अमूर्त से तुलना के और प्रभाव-साम्य के शैलीगत उदाहरण कुछ प्रचुरता से मिलते हैं। ऐसे उदाहरण छायावादी शैली में विशेष रूप से मिलते हैं।

दीप के प्रति कवि की एक सुन्दर उक्ति देखिए—

किसी माधुरी स्मित-सा होकर यह सकेत बताने को,
दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को।

'झरना' की अनेकों कविताओं में प्रसादजी के प्रेम-पूर्ण आशा-

मय उद्गार हैं। कवि के लिए संसार आशामय है। 'मिलन' कविता में ये पंक्तियाँ हैं—

"मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।
यह असल जीवन सफल अब हो गया॥
कौन कहता है जगत है दुःखमय,
यह सरस संसार सुख का सिंधु है॥"

'झरना' से 'लहर' तक आते-आते प्रसाद की कविता में क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो चुका है। भावों की प्रौढ़ता, विचारों की गम्भीरता और कल्पना की व्यञ्जना—सभी कुछ लहर में एकत्रित हैं। 'झरना' में कवि की आत्मा जिन भावों को लेकर प्रस्फुटित हुई थी, उन्ही भावों की प्रतिध्वनि 'लहर' में है। सूत्र एक ही है; परन्तु उसके व्यक्तीकरण में भेद है। वेदना की मात्रा अधिक हो गई है। शुद्ध कल्पना का समावेश हुआ है और आध्यात्मिकता से विराग ले लिया गया है।

'लहर' में शीर्षक विहीन अनेकों प्रकार की कवितायें संग्रहीत हैं। अन्त में 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', और 'प्रलय की छाया' तीन अतुकान्त कविताएँ हैं : बौद्ध इतिहास की घटनाओं और बौद्ध-स्थलों पर भी दो एक सुन्दर कविता सङ्कलित हैं। 'अरी वरुण की शान्त कछार' से प्रारम्भ होने वाली कविता में बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का सुन्दर उद्घाटन हुआ है। देखिये प्रसादजी की विचार-धारा। 'लहर' की कविताओं में काव्य-जगत् की सुन्दरता खरे रूप में उतर आई है। एक बहुत ही मनोरम प्रभाव सम्बन्धी काल्पनिक चित्र इस प्रकार है—

"बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।"

परन्तु कवि प्रसाद के प्रेमोद्गारों को यदि हम शत-शत धाराओं में फूटते, सुन्दर चन्द्रिका की किरणों पर एक काल्पनिक जगत् में विचरण करते हुए देखने की अपेक्षा रखते हैं तो हमें उनकी सर्वप्रिय रचना "आँसू"* को देखना चहिए जो करुण हृदय प्रसाद का प्रिय

* काल क्रम में झरना के बाद आँसू आता है।

विषय है। आँसू की महिमा उन्होंने ब्रज-भाषा में भी गाई है—

'तातो-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै,
एरे मेरे आँसू तैं पियूष तैं सरस है।'

"आँसू" ने हिन्दी काव्य की धारा को बदल दिया। वह हमारे काव्य-साहित्य में एक साका उपस्थित करता है। उसके बराबर लोक-प्रिय-रचना हिन्दी में बच्चन को छोड़कर कम ही हैं। अनेकों कवियों ने "आँसू" का अनुकरण किया! प्रेम और निराशा ये दो प्रधान बातें आँसू में हमें मिलती हैं। "आँसू" के कवि के लिए यह संसार "व्यथित-विश्व-आँगन" है। वह प्रश्न कर बैठता है।

"क्यों छलक रहा दुख मेरा,
ऊषा की मृदु पलकों में?"

तथा— "जीवन में मृत्यु बसी है,
जैसे बिजली हो घन में।"

स्थल-स्थल पर प्रेम उद्‌गार बड़ी मार्मिक शैली में व्यक्त किये गये हैं—

"विष प्याली जो पीली थी,
वह मदिरा बनी नयन में।
सौन्दर्य पलक प्याले का,
अब प्रेम बना जीवन में।"

'आँसू' में निराशा के साथ-साथ सामञ्जस्य-बुद्धि का भी समावेश हुआ है। कवि मानो किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा है जिसे वह संसार के सम्मुख रख देना चाहता है—

"मानव-जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।"

'आँसू' का कवि भाव कल्पना से भरा हुआ है। उसमें वह कल्पना जगत का पथिक है। और उसकी विधायक शक्ति पूर्ण-रूपेण प्रदर्शित है। भविष्य की 'कामायनी' के रचनाकार की उसमें झाँकी मिलती है।

× × × ×

'आँसू' से 'कामायनी' तक आते-आते ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि ने अपना एक युग पूर्ण कर नवीन संसार में प्रवेश किया है। कामायनी समस्त हिन्दी संसार की अद्वितीय वस्तु है। उसमें प्रसादजी 'महाकवि' के रूप में प्रकट हुए हैं। कामायनी में जीवन का कोई विशेष अङ्ग नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन है। ऐसा लगता है मानो कवि प्रसाद जीवन भर किसी विशाल विषय की खोज में रहे थे और जीवन की अन्तिम घड़ियों में ही वह खोज सफल हुई। मिल्टन और दाँते के काव्य की-सी कथावस्तु कामायनी की भी है। वह विश्व-साहित्य की अनोखी चीज है। मृत्यु समय प्रसादजी ने जो अन्तिम भेंट हमें दी है वह हिन्दी संसार की अमर सम्पत्ति है। हिन्दी उनकी चिर ऋणी रहेगी।

'कामायनी' की कथा-वस्तु पौराणिक है। वह पुरातन स्वर्ण युग के समय की घटना को लेकर आगे चलती है। उसमें आदि पुरुष और आदि स्त्री के चरित्र अङ्कित हुए हैं। 'कामायनी' जीवन की फिलासफी का क्रमिक तथा स्वाभाविक विकास है। उसकी रचना मानवात्मा की एक शाश्वत पुकार को लेकर हुई है। उसमें जीवन के प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से सुलझाया गया है। उसमें एक सहज रूपक द्वारा कल्पना तथा कविता की सहायता से जीवन के चिरन्तन सत्य की चिरनवीन झाँकी दी गई है। 'कामायनी' की कथावस्तु सार्वदेशिक एवं शाश्वत है वह निस्सीम है। वह प्रत्येक देश, जाति, काल, धर्म सभी से ऊपर है।

'कामायनी' में मनु और इड़ा का चित्रण तो अपूर्व हुआ ही है, साथ ही, अनेकों स्थलों पर प्रथम कोटि के काव्योद्गार भी हैं। प्रारम्भ में ही जलप्लावन का दृश्य बड़ा ही सुन्दर है तथा चिन्ता का वर्णन भी बहुत प्रभावोत्पादक शैली में हुआ है। 'कामायनी' में स्वतन्त्र रूप से अनेकों गीत (lyrics) बिखरे पड़े हैं। काव्य की दृष्टि से, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तथा अन्य सभी दृष्टियों से 'कामायनी' एक अपूर्व रचना है।

आँसू की प्रेम-मीमांसा



प्रसादजी का आँसू नाम का छोटा सा काव्य अपने आकार की लघुता एवं घनीभूत पीड़ा की रसमयी अभिव्यक्ति के कारण भौतिक आँसू का ही प्रति रूप है। आँसू की भाँति इसके आदि में विषम-वेदनामयी जलन है और अन्त में ममत्व-परत्व के द्वन्द्वों से ऊँचा उठा कर सुख दुःख का मेल कराने वाली उपेक्षापूर्ण मङ्गलमयी शान्ति की रस वृष्टि है।

आँसू विरह प्रधान काव्य है किन्तु इसका विषय वर्तमान विरह नहीं है। वरन् इसका सम्बन्ध विगत विरह की मधुस्मृति तथा उसकी ज्वाला को उपशमन करने वाली जीवन मीमांसा से है। कष्ट की वर्तमान अवस्था में रस नही रहता वह लौकिक अनुभव की ही कोटि में आता है। वर्डसवर्थ ने कविता को विगत मनोरागों का सावकाश स्मरण कहा है। Poetry is emotion recollected at leasure यह विरह स्मृतिपरक होने के कारण कम तीव्र नही है। क्योंकि अभिलाषाएँ इन स्मृतियों को जागरित कर तीव्रता प्रदान करती रही हैं। इस प्रकार इस विरह निवेदन में वास्तविकता और स्मृति दोनों का ही सम्मिश्रण है।

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भींगी पलकों का लगना।

पूर्वानुभूत सुख एवं विरह-जन्य दुःख की स्मृतियाँ मिल कर कवि के मन पर एक गहरा प्रभाव डालती हैं और वही घनीभूत पीड़ा अपने श्लिष्ट अर्थ को सार्थक करती हुई (केन्द्रीभूत और मेघस्वरूप) आँसू के रूप में बरस पड़ती है।

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आई।

यहाँ तो स्मृति उपनाम रूप में ही आई है किन्तु इस काव्य का उदय स्मृतियों से ही हुआ है। वे स्मृतियाँ मिलन और विरह से सम्बन्ध रखती हैं और प्रकाशमयी हैं। वे जलन की भी स्मारक हैं और मिलन की भी।

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय
.... ..

इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल
मेरे उस महा मिलन के।

आँसू में केवल विरह-निवेदन ही नहीं है और न इसका अन्त भौतिक मिलन में है। इसमें एक जीवन-मीमांसा और तत्त्व-चिन्तन भी है, जिसके आलोक में वेदना वैयक्तिक बन्धनों से मुक्त हो कर एक दिव्य आभा धारण कर लेती है और कवि सौन्दर्य के एक मानसिक आदर्श में मग्न होकर एक उपेक्षामय शान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार आँसू के लौकिक और अलौकिक दोनों ही पक्ष हैं।

प्रसादजी ने केवल उस अन्तर्ज्वाला के ही दर्शन नहीं कराये हैं जो विश्व-मन्दिर के मणिदीप सदृश तारकों की झिलमिल छाया में भी निरन्तर जलती रहती है वरन् उस रूप-चन्द्रिका की भी ललित-कलित झाँकी दिखलाई है जो कामना द्वारा इस अग्नि को प्रदीप्त रखती है—

सौन्दर्य सुधा बलिहारी,
चुगता चकोर अंगारे।

प्रसादजी ने सौन्दर्य सम्पन्न प्रेम-पात्र के साथ मिलने के उस पीयूष-प्रभाव का भी जो जीवन को सरसता प्रदान करता है, दिग्दर्शन कराया है।

प्रसादजी ने उस सौन्दर्य का वर्णन कुछ-कुछ प्राचीन कवियों के ढङ्ग का ही किया है, देखिए:—

चञ्चला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी

इस पद्य में हमको तुलसीदासजी के "जो छवि सुधा पयोनिधि होइ। परम रूप मय कच्छप सोई' से आरम्भ होने वाले रूपकमय सौन्दर्य-वर्णन का वर्तमान कालीन रूप मिलता है। इस सौन्दर्य के वर्णन में प्रसादजी ने अलङ्कारों का जो प्रयोग किया है वह उनके हृदय की भावना और उमङ्ग का द्योतक है। देखिए—

लावण्य-शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीय कला की
सुषुमा थी प्यारी-प्यारी

लावण्य-शैल को राई बना कर एक विरोध का ही चमत्कार नहीं उत्पन्न किया है वरन् उसको सार्थक भी बना दिया है। नजर से बचाने के लिए राई नौन उतारा जाता है। प्रसादजी ने अपने प्रेम-पात्र के वर्णन में जिन अलङ्कारों का प्रयोग किया है वे बड़े ही सार्थक हैं।

प्रसादजी ने कहीं-कहीं किसी अङ्ग के वर्णन में रीति-कालीन कवियों का अनुकरण किया है। साथ ही परम्परा भुक्त उपमानों की अनुपयुक्तता दिखला कर एक प्रकार का आदूमुत्य और चमत्कार भी उत्पन्न कर दिया है। देखिए—

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे?

हमारा उद्देश्य प्रसादजी के अलङ्कार विधान पर प्रकाश डालना नहीं है वरन् यह कि ऐसे वर्णनों को देखकर प्रश्न होता है कि प्रसादजी के आँसू का आलम्बन कोई हाड़ माँस चाम का लौकिक व्यक्ति है अथवा यह लौकिक व्यक्ति केवल आलङ्कारिक है और इसके द्वारा अलौकिक-प्रेम-पात्र की ओर संकेत किया गया है। ऐसे वर्णन तथा कुछ और वर्णनों को (जैसे—बाँधा था विधु को किसने इन

काली जञ्जीरों से) देखते हुये यह कहना कठिन है कि आँसू का आलम्बन भौतिक नहीं है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनसे अलौकिक की ओर सकेत है। देखिए—

छायानट छवि परदे में
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या कुहुकिन अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता
× × ×
अपनी आँखों का तारा।

कुछ लोगों ने जैसे डाक्टर रामकुमार वर्मा ने आँसू का आलम्बन सत्य माना है और प्रोफेसर नगेन्द्र ने कवि की वासना का प्रतीक रूप। किन्तु आँसू के पढ़ने से मालूम होता है कि इसका आलम्बन तो वास्तविक व्यक्ति ही था फिर विफल वेदना के कारण उसका निराकरण होकर वह सौन्दर्य का आदर्शमात्र रह गया और विरह भी ममता-शून्य होकर मङ्गलमय हो जाता है। नीचे की पंक्तियों में व्यक्तित्व की ओर स्पष्ट संकेत है। देखिए—

प्रतिमा में सज़ीवता सी
बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

सांसारिक प्रेम यदि खिलवाड़ नहीं है तो उससे व्यक्ति का ही मान होता है। विरह भी व्यक्ति का ही होता है। विरह ही निर्व्यक्तीकरण की ओर ले जाता है। उद्धव गोपियों को ब्रह्म में मन लगाने का उपदेश देकर उनके आलम्बन का निर्व्यक्तीकरण करना चाहता था लेकिन यह नहीं हो सका। प्रसादजी का निर्व्यक्तीकरण आत्म-चिन्तन का फल है। वैसे भी स्त्री और पुरुषों की भावना की मात्रा में अन्तर रहता है।

आँसू में हम भावना और चिन्तन का एक सुखद सम्मिश्रण पाते हैं। भावना चिन्तन के आधीन हो अपनी पूर्ति करती दिखाई देती है। आँसु में प्रसादजी के तीन व्यक्तित्व प्रेमी, कवि और दार्शनिक मिले हुए हैं। उनका कवित्व, प्रेमी के विरह को बल देता है फिर जब

वह विरह चारों ओर भटका लेता है तब उनका कवि दार्शनिक और प्रेमी का मेल कराकर उसे विश्व-मण्डल की ओर ले जाता है।

प्रसादजी की प्रेम पद्धति की पृष्ठ-भूमि में सर्वेश्वरवाद है। वे अपने लौकिक प्रियतम में भी ईश्वर की ही विभूति देखते हैं—

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिंचन
देखे जो स्वप्न सवेरे।

व्यक्ति और कवि के सहयोग की बात का आभास हमको नीचे की पंक्तियों से मिलता है—

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

कवि ने मिलन के आनन्द को भी द्विगुणित कर दिया और विरह पर भी शान चढ़ा दी थी।

प्रसाद व्यक्ति का प्रियतम चला जाता है। उसके आने और चले जाने दोनों के प्रभाव को कवि एक छन्द में कह देता है। उसने जो उपमान चुने हैं वे आश्रय और आलम्बन दोनों से ही सम्बन्ध रखते हैं। 'मादकता से आये तुम संज्ञा से चले गये'। प्रियतम स्वयं मदभरा था और आश्रय पर उसका प्रभाव भी मादकता का सा था। वे और उनके जाने से आश्रय संज्ञा-शून्य हो गया मानो वे स्वयं उसकी संज्ञा-स्वरूप थे। उसके चले जाने से सारा दृश्य पलट जाता है, 'बिनु गुपाल वैरिन भईं कुंजै' की बात हो जाती है—

जल उठा स्नेह, दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूम रेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा
इस तममय हृदय पुलिन में

जहाँ चाँदनी थी वहाँ अन्धकार हो गया। स्वर्गगङ्गा का स्थान कालिन्दी ने ले लिया और वह भी तममय हृदय-पुलिन में बहती है।

विरहिनी करुणा से प्रेम का रंग छूटता नहीं है वरन् और भी गहरा हो जाता है। इस सम्बन्ध में कवि कहता है—

अब छुटता नहीं छुड़ाये
रँग गया हृदय है ऐसा
आँसू से धुला निखरता
यह रंग अनोखा कैसा।

'रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होइ ज्यों ज्यों बूढ़े श्याम' की बात तो नहीं है, किन्तु रङ्ग पक्का होने के कारण निखरता ही है, फीका नहीं पड़ता है।

विरह की इस विषम-वेदना में कवि विश्व से परिचय प्राप्त कर लेता है—

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा।

वह चारों ओर भटक आता है, भटकने पर भी कहीं कूल किनारा नहीं मिलता है। विश्राम की कहीं झलक भी नहीं दिखाई देती—

वेदना विकल फिर आई
मेरी चौदहों भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में।

कवि की कल्पना व्यक्ति को सहारा देती है। वह रोई हुई आँखों में ही निद्रा द्वारा सुख स्वप्नों में, अथवा कवि के काल्पनिक लोक की अलौकिक सुषमा के रसास्वादन में आशा की किरण की झलक पाता है।

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है
रोई आँखों में निद्रा
बन कर सपना होता है।

फिर स्वर्ग-गङ्गा कालिन्दी और तम का स्थान ले लेती है और

उनमें श्वेत कमल खिलने लगते हैं। श्वेतता आशावाद का प्रतीक है। यही प्रसादजी की प्रतीकात्मक शैली है। इस विश्राम और स्वप्न का सुख लेने के लिए विस्मृति की मदिरा आवश्यक है। यही विस्मृति और उपेक्षा प्रसादजी की अमृत धारा है। देखिए—

विस्मृति समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण जलद की
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

यह विस्मृति अन्तिम नहीं है। यदि अन्तिम होती तो वह मृत्यु का पर्याय बन जाती। कवि अपने हृदय की ज्वाला को भी जाग्रत रखना चाहता है उसको वह मानवता का सौभाग्य चिह्न (रोली) कहता है और उसमें वह मानवता के कलुष के शमन की आशा देखता है:—

जीवन सागर में पावन
बड़वानल की ज्वाला सी।
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल बाला सी।

ज्वाला का शान्त होना, प्रगति का चिह्न है। वेदना के पावन प्रभाव को प्रसादजी स्वीकार करते हैं। वह जीवन को गति देने के लिए आवश्यक है। प्रसादजी का उपचार इतने से ही शेष नहीं हो जाता है। इसके साथ एक जीवन मीमांसा का भी अनुपान है जो विस्मृति की औषधि से कहीं अधिक महत्त्व रहता है और वह सर्वथा भारतीय संस्कृति के अनुकूल भी है। इस मीमांसा के दो अङ्ग हैं एक प्रेम पात्र का निर्व्यक्तीकरण (जिसका उपदेश उद्धव ने गोपियों को दिया था) और ममत्त्व का त्याग इस मीमांसक प्रसाद का, दार्शनिक व्यक्ति का सहायक होता है। जैसा ऊपर कहा गया है, प्रसादजी के प्रेम का आधार सर्वेश्वरवाद है। वे निराशा की ध्वंस चिता से अपने में सोई हुई विश्वात्मा को जगाते हैं और फिर जीवन में रस लेकर विश्वमङ्गल की कामना करते हैं। देखिए—

जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता।
हाँ मृत्यु नृत्य करती है मुस्क्याती खड़ी अमरता॥

वह मेरे प्रेम विहँसते जागें मेरे मधुवन में।
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में॥

अपनी सौन्दर्य पिपासा की तृप्ति के लिए कवि एक काल्पनिक आदर्श उपस्थित कर लेता है। उसी की मानसिक पूजा में वह मग्न हो जाना चाहता है।

जिसमें इतराई फिरती
नारी, निसर्ग सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें
शिशु की उर्मिल निर्मलता

शिशु की निर्मलता को मिला कर सौन्दर्योपासना को सात्विक बना दिया है। उसी को वे अपनी मानव पूजा का प्रतीक बनाना चाहते हैं देखिए:—

मेरी मानस पूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो

इस मीमांसा का दूसरा अङ्ग है ममत्त्व के त्याग द्वारा सुख-दुःख का मेल। यह अहङ्कार ही तो दुःख का कारण है। इसके त्याग से दुःख, दुःख नहीं रहता। कवि जीवन में दुःख-सुख को मिला हुआ मानता है। तुलसीदासजी ने भी इस संसार में पाप-पुण्य दिन रात का सम्मिश्रण माना है। कवि मन में सुख दुःख को मिले हुए प्रेम के साथ मन मन्दिर में सोते हुए देखता है:—

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुःख दोनों ही ऐसे
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे

किन्तु बाह्य जगत में दुःख और सुख का कुछ सङ्घर्ष दिखाई देता है। दुःख पृथ्वी के ही बाँट पड़ा है। कवि दुःख को संसार में व्याप्त देखता है और पृथ्वी में दुःख का आरोप भी करता है। सागर का खारी पानी उसके आँसुओं का ही पुञ्जीभूत रूप है—

नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन सी करती
अपने खारे आँसू से
करुणा सागर को भरती

दुःख और सुख के सम्बन्ध में अभिलाषाओं और वास्तविकता में अन्तर दिखाई पड़ता है। 'धरणी दुःख माँग रही है, आकाश छीनता सुख को'। जब आकाश सुख को छीन लेता है तब दुख के अपनाने के सिवाय रह ही क्या जाता है? सुख के लिए भी कवि दुःख को आवश्यक समझता है। एक दुःख दूसरे के सुख का कारण बन जाता है।

उनका सुख नाच उठा है
यह दुख द्रुम-दल हिलने से
शृङ्गार चमकता उसका
मेरी करुणा मिलने से

दुःख आवश्यक है। सौन्दर्य के लिए भी करुणा की अपेक्षा है। दुःख भी तीव्रता और कटुता-ममता के ही कारण है। जब कवि यह गाता है कि 'घर घर में दिवाली है मेरे घर में अँधेरा' तब इस विवेचना के कारण उसका अहंभाव ही होता है। यदि यह अहंभाव मिट जाय तब दुःख की तीव्रता और कटुता जाती रहती है।

हो उदासीन दोनों से
दुःख सुख से मेल करायें
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनायें

आँसू का आरम्भ वेदना से होता है और अन्त अश्रुहास मिली हुई जीवन को हरियाली देने वाली वर्षा से होता है। इसके काव्य के आदि में प्रेम का लौकिक पक्ष है और अन्त में उसके अलौकिक रूप की झाँकी मिलती है लेकिन उसको वहाँ तक पहुँचने में निराशा और वेदना का पथ पार करना पड़ता है। लौकिक प्रेम का अनुभव अलौकिक प्रेम को मानवता प्रदान करता है। कवि अपने अहंकार की हानि कर उस रसभूमी सृष्टि में पहुँच जाता है जहाँ आनन्द ही आनन्द है। इसी अवस्था की कल्पना करता हुआ आशा करता है—

हे जन्म-जन्म के जीवन साथी संसृति के दुख में,
पावन प्रभात हो जावे जागो आलस के सुख में
जगती का कलुष अपावन तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता यह पाप पुण्य हो जावे।

कामायनी की भाव-मूलक व्याख्या

वर्तमान युग में मानव को अपने बल और दौर्बल्य की आत्म चेतना हो गई है। वह अपने दौर्बल्य पर भी गर्व करता हुआ अपने पतन में उत्थान के बीज निहित पाता है। कामायनी इसी आत्मचेतना से लिखा हुआ महाकाव्य है। इसके सुरम्य कथा-सूत्र में मानव सभ्यता का इतिहास एवं मानव मनोवृत्तियों का सांकेतिक विवरण सम्बद्ध है जो कि उसके काव्य-कुसुम के रसपूर्ण चित्रित सौन्दर्य में एक दिव्य सौरभ का आमोद प्रदान करता है।

इस महाकाव्य के नायक हैं आदि पुरुष वैवस्वत-मनु जो कि जलप्लावन के पश्चात् देवताओं की ध्वस्त सृष्टि में से बच रहे थे और जिनके देवत्व का दम्भ जर्जरित हो गया था।

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ।
आह सर्ग के प्रथम अङ्क का,
अधम पात्र मय सा विष्कम्भ॥

मनु जिस रूप में हिमगिरि पर दिखाई देते हैं वह चिन्ताकुल होने पर भी पूर्णतया स्वस्थ और पौरुषमय है। मनु का जैसा स्वस्थ पुरुष-सौन्दर्य प्रसादजी ने अङ्कित किया है वैसा अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।

अवयव की दृढ माँस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार।
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें सञ्चार॥
चिन्ता-कातर बदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत।

उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत ॥

इस काव्य में फलप्राप्ति मनु को होती है किन्तु श्रद्धा के ही द्वारे। वही उसको चिन्ता के जीवन से आनन्द लोक तक पहुँचाती। इसीलिये उसी के नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ। एकाकी तु चिन्ताकातर था और उसमें एक प्रकार के श्मशान-वैराग्य के रूप देव-सभ्यता की उच्छृङ्खल विलासिता की प्रतिक्रिया परिलक्षित ती है।

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल,
सब विलासिता के नद में।
वे सब डूबे, डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार।
उमड़ रहा है देव सुखों पर,
दुःख-जलधि का नाद अपार ॥

ऐसी पराजय की मनोवृत्ति में चिन्ता के सिवाय और कौनसी स्तु स्थान पा सकती है? जब हृदय में उत्साह होता है तब चिन्ता हीं रहती। मनु अपने पुरुषत्व के अभिमान में चिन्ता को दूर हटाना गाहते हैं।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता
तेरे हैं कितने नाम!
अरी पाप है, तू, जा, चल, जा
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम ॥

बुद्धि और चिन्ता का चाहे ऐक्य न हो किन्तु साहचर्य अवश्य है। क्योंकि जहाँ चिन्ता होती है वहाँ ऊहापोह में बुद्धि का प्रयोग अवश्य होता है जैसा कि आचार्य शुक्लजी ने लिखा है, यह बुद्धिवाद के विरोध का प्रथम संकेत है। मनु को फिर पराजय-वृत्ति घेर लेती है और वे इस संसार से भागना चाहते हैं। वे अपनी चेतना पर विस्मृति का आवरण डालने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे कोई निराश व्यक्ति अफीम खाकर या तो (हमेशा के लिए या थोड़े

काल के लिए चेतना का अन्त कर देना चाहता है। देखिए मनु कैसी बलवती विकलता का परिचय देते हैं—

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते! बस चुप कर दे,
चेतनता चल जा, जड़ता से,
आज शून्य मेरा भर दे॥

यह दशा मनुष्य की चिरकाल तक नहीं रह सकती। तूफान के पश्चात शान्ति का समय आता है, विषाद और चिन्ता से पूर्ण कराल रात्रि के पश्चात् अरुणोदय हुआ और उसी के साथ प्रकृति का पट पलटा—उसकी भीषणता सौम्य रूप धारण करने लगी और मनु के हृदय में आस्तिकतामूलक कौतूहल की जाग्रति हुई। दुख और सुख के सन्धिकाल तक आस्तिकता, पश्चाताप और वैराग्य का बाहुल्य रहता है। वैसे भी प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन से रहस्य-भावना की जाग्रति स्वाभाविक है।

वह विराट था हेम घोलता
नया रङ्ग भरने को आज,
कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।

× × ×

हे विराट! हे विश्वदेव! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वरसयुत
यही कर रहा सागर गान।

प्रभात की मधुरिमा में प्रकृति के सौम्य रूप को देखकर मनु के मन में आशा और उत्साह का उदय होता है और उसी के साथ जीवनेच्छा का भी।

जीवन! जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह,
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह
मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में!

मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

जीवनेच्छा के साथ मनु के हृदय का विषाद जो अभी तक पूरी तौर से दूर नहीं हुआ था कुछ उग्र हो उठता है। जीवन, केवल जीवन शिला का सा अस्तित्व मात्र कुछ अर्थ नहीं रखता। जीवन पूर्णता चाहता है, निरुद्देश एकाकी जीवन विषाद की अग्नि को प्रज्वलित कर देता है और मनु सोचने लगते हैं—

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,
जीकर क्या करना होगा?
देव! बता दो, अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा।

मनु को सूनापन अखर रहा था। उनके मन में भी एकोऽहम् बहुस्याम की चाह थी और चाह से प्रेरित हो वे सोचते थे—

और सोचकर अपने मन में
जैसे हम हैं बचे हुए
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए,
अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे,
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे;
दुख का गहन-पाठ पढ़कर अब
सहानुभूति समझते थे;

ठीक है 'जाके पाँव न फटी बिवाई सो का जाने पीर पराई'— यह है परार्थ सात्विक कर्म। इससे श्रद्धा की प्राप्ति होती है।

बहुत प्रतीक्षा तथा अपने मन को सुलाने वाले प्रेम की सुध करने के पश्चात् मनु को श्रद्धा की आवाज सुनाई पड़ी। सौन्दर्य उपासना के लिए प्रेम की जाग्रति आवश्यक है। मनु जिस आवाज को सुनने को तैयार हो गये थे वही उनके कानों में आई। आवाज ही चिन्ता मग्न पुरुष को आकर्षित कर सकती है, फिर तो सौन्दर्य-दर्शन के लिए नेत्र खुल जाते हैं। नेत्र खुलते ही श्रद्धा की नयनाभिराम मूर्ति भी सामने आई जिसका वर्णन प्रसादजी ने इस प्रकार किया है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रङ्ग

नील वस्त्र चिरस्थायी प्रेम का प्रतीक होता है क्योंकि नील रङ्ग बार-बार धोने से भी हलका नही पड़ता। सूर ने भी राधा को नीली फरिया पहनाई है। श्रद्धा भावुकता की मूर्ति है, कला और सौन्दर्य की प्रतीक है। वह गंधर्व देश में कला का ज्ञान प्राप्त कर के आई थी—

भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान

श्रद्धा ने मनु को आशा, उत्साह और कर्मण्यता का सन्देश दिया। श्रद्धा के उदय होते ही आशा का संचार होने लगता है। श्रद्धा में जो विश्वास की मात्रा रहती है वही उत्साह का कारण बनती है। श्रद्धा के मुख से प्रसादजी जीवन मीमांसा का भी उद्घाटन कराकर मन को निराशाजन्य पलायनवाद से विरत कर जीवन का आनन्द लेने की ओर प्रवृत्त करते हैं।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल,
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्,
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

दुख ही सुख के विकास का कारण होता है। हमको जीवन उसकी पूर्णता में ग्रहण करना चाहिए। दुखों को छोड़कर अमिश्रित सुख नहीं मिल सकता। भूमा पूर्णता का ही नाम है। 'भूमा वै सुखम' दुख ही जीवन के मूल्यतम रत्नों को प्रकाश में लाता है :—

व्यथा मे नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।

मनु पलायनवाद की ओर जाता है। श्रद्धा उसको जीवन-संग्राम

की ओर ले जाती है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में नारी को महत्व दिया है। पुरुष-प्राधान्य के बहुत से काव्य लिखे जा चुके हैं, नारी-प्राधान्य के काव्य से हमें विचलित नहीं होना चाहिये। किरातार्जुनीय में द्रोपदी ने ही पाण्डवों को प्रोत्साहन दिया था और राजपूत रमणियाँ भी पुरुषों को युद्ध के लिए सुसज्जित करती रही हैं किन्तु यहाँ श्रद्धा ने सुसज्जित करने से कुछ अधिक काम किया है। उसने मनु को निराशा के गर्त्त से निकाल कर जीवन में प्रवेश कराया है। मनु कहते हैं—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख, नहीं सन्देह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह

श्रद्धा तप की अपेक्षा जीवन को महत्त्व देती है और आकांक्षा-पूर्ण आशा आह्लाद की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करती है। जीवन तिरस्कार की वस्तु नहीं। श्रद्धा का उत्साहपूर्ण उत्तर सुनिये—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह—
अरे तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।
तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;

श्रद्धा मनु के लिए अपने हृदय का द्वार खोलकर दया, माया, ममता आदि रत्नों को उसे भेंट करती है।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिये खुला है पास।

जीवन का उल्लास और आशावाद जितना हमको कामायनी के वचनों में मिलता है उतना इस युग में बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। इस युग के निराशावाद के लिए यह एक औषधि रूप है।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रङ्ग

नील वस्त्र चिरस्थायी प्रेम का प्रतीक होता है क्योंकि नील
बार-बार धोने से भी हलका नहीं पड़ता। सूर ने भी राधा को नी
फरिया पहनाई है। श्रद्धा भावुकता की मूर्ति है, कला और सौन्दर्य
प्रतीक है। वह गंधर्व देश में कला का ज्ञान प्राप्त कर के आई थी—

भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान

श्रद्धा ने मनु को आशा, उत्साह और कर्मण्यता का सन्दे
दिया। श्रद्धा के उदय होते ही आशा का संचार होने लगता है। श्र
में जो विश्वास की मात्रा रहती है वही उत्साह का कारण बनती है
श्रद्धा के मुख से प्रसादजी जीवन मीमांसा का भी उद्घाटन कराव
मन को निराशाजन्य पलायनवाद से विरत कर जीवन का आन
लेने की ओर प्रवृत्त करते हैं।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल;
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्,
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

दुख ही सुख के विकास का कारण होता है। हमको जीव
उसकी पूर्णता में ग्रहण करना चाहिए। दुखों को छोड़कर अमिश्रि
सुख नहीं मिल सकता। भूमा पूर्णता का ही नाम है। 'भूमा वै सुखम
दुख ही जीवन के मूल्यतम रत्नों को प्रकाश में लाता है :—

व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।

मनु-पलायनवाद की ओर जाता है। श्रद्धा उसको जीवन-संग्रा

की ओर ले जाती है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में नारी को महत्व दिया है। पुरुष-प्राधान्य के बहुत से काव्य लिखे जा चुके हैं, नारी-प्राधान्य के काव्य से हमें विचलित नहीं होना चाहिये। किरातार्जुनीय में द्रौपदी ने ही पाण्डवों को प्रोत्साहन दिया था और राजपूत रमणियाँ भी पुरुषों को युद्ध के लिए सुसज्जित करती रही हैं किन्तु यहाँ श्रद्धा ने सुसज्जित करने से कुछ अधिक काम किया है। उसने मनु को निराशा के गर्त से निकाल कर जीवन में प्रवेश कराया है। मनु कहते हैं—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख, नहीं सन्देह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह

श्रद्धा तप की अपेक्षा जीवन को महत्त्व देती है और आकांक्षा-पूर्ण आशा आह्लाद की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करती है। जीवन तिरस्कार की वस्तु नहीं। श्रद्धा का उत्साहपूर्ण उत्तर सुनिये—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह—
अरे तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।
तप नहीं केवल जीवन-सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,

श्रद्धा मनु के लिए अपने हृदय का द्वार खोलकर दया, माया, ममता आदि रत्नों को उसे भेंट करती है।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिये खुला है पास।

जीवन का उल्लास और आशावाद जितना हमको कामायनी के वचनों में मिलता है उतना इस युग में बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। इस युग के निराशावाद के लिए यह एक औषधि रूप है।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार

हँसाता रहे उसे सविलास,
शक्ति का क्रीड़ामय सञ्चार॥
शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त,
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय॥

श्रद्धा के इस आत्म-समर्पणमय वीरता के सन्देश के पश्चात् काम ने एक दूरागत ध्वनि के रूप में आकर अपना परिचय देते हुए कन्यादान की रसम भी अदा करदी।

हम दोनों की सन्तान वही
कितनी सुन्दर भोली-भाली!
रंगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलों की वह डाली।
जड़ चेतनता की गाँठ वही,
सुलझन है भूल-सुधारों की।
वह शीतलता है शान्तिमयी,
जीवन के उष्ण विचारों की॥

सरसरी तौर से देखने पर श्रद्धा का, काम की दुहिता होना कुछ सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम काम को उसके शुद्ध और व्यापक रूप में लेते हैं तो यह सन्देह दूर हो जाता है। संसार में काम एक आदि प्रेरक शक्ति है। 'काममयं एवायं पुरुषः', लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा सब इसी के विविध रूप हैं। जीवन की आकांक्षा (The will to live) भी इसका नामान्तर है। काम में ही भाव का मूल है। कलाओं का भी इसी से सम्बन्ध है। चौसठ कलाओं का विवरण हमको काम सूत्रों से मिलता है। काम आकांक्षा है, रति उसकी तृप्ति है। आकांक्षा की तृप्ति श्रद्धा को जन्म देती है।

काम के पश्चात् वासना का उदय होता है। वासना काम का ही व्यक्त रूप है। काम और वासना मनुष्य की इच्छा शक्ति के ही रूपान्तर हैं। वासना के आते ही मनु का मन सौन्दर्य-प्रवण हो जाता है और कामायनी के पालित पशु के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाने पर भी वह श्रद्धा को आत्म-समर्पण कर देता है।

'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ, यही सुदृढ़ विचार
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार

सौन्दर्य के विषयी-प्रधान (Subjective) और विषय-प्रधान (objective) दोनों ही पक्ष हैं। बिहारी ने इन दोनों पक्षों का उद्घाटन 'रूप रिझावन हार वह ये नयना रिझवार' इस दोहार्ध में किया है। वासना उसके विषयी-प्रधान पक्ष को पुष्ट करती है और लज्जा उसके विषय-प्रधान पक्ष को बल देती है। लज्जा वासना की अतिशयता के ऊपर एक आवश्यक 'ब्रेक' का भी काम करती है। कामायनी में लज्जा के इन दोनों धर्मों की ओर संकेत किया गया है।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ,
गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती

मनु श्रद्धा के वचनों का उलटा अर्थ लगाकर पशुबलि के काम्य-कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं और इसमें असुरों के पुरोहित किलात और आकुलि उनके सहायक बनते हैं। पशुबलि होती है, पाशविकता की वृद्धि के लिए। मेरी समझ में दोनों ओर के आत्म समर्पण के बाद यह काम्य-कर्म का व्यापार कुछ असंगत सा लगता है। श्रद्धा को पुरोडाश और सोमपान कराना अनावश्यक था। पशुबलि का विरोध प्रसादजी के प्रकाम्य विषयों में से था, शायद इसलिये उसके वर्णन करने का मोह वे संवरण न कर सके हों। यह बलिकर्म श्रद्धा के पालित पशु के प्रति मनु के ईर्षालु मन की प्रेरणा से हुआ हो या पूर्व संस्कारों की प्रबलता से, जो कुछ भी हो यह कुछ अप्रासङ्गिक-सा लगता है।

मनु अपने आदर्श स्वभाव में चित्रित नहीं हुए हैं। प्रसादजी यथार्थवादी हैं। मनु का चरित्र नैतिक बन्धनों से ही साधारण मनुष्य के रूप में दिखाया गया है। पहले उनको श्रद्धा के पालित पशु के प्रति ईर्ष्या हुई थी, अब अपने ही भावी पुत्र के प्रति। मनु देव सृष्टि के अबाधित अधिकारों के संस्कार लेकर आये थे और शायद वे घर में बँधकर नहीं बैठना चाहते थे।

मातृभार से दबी हुई श्रद्धा का केतकी गर्भ सा पीला मुँह और आँखों में भरा स्नेह उनको अधिक आकर्षण न दे सका। A thing

of beauty is not a joy for ever की बात उपस्थित हो गई थी। श्रद्धा उनके मृगया कर्म का भी विरोध करती थी। वह मृगया के आगे खेती की अवस्था को पहुँच गई थी। स्त्रियाँ सदा रक्षा का प्रतीक रही हैं। श्रद्धा के भावी वात्सल्य और मनु के दूसरे को न सहन करने-वाले प्रेम में संघर्ष हो उठता है।

यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार!
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।

मनु का अहं इतना बढ़ा हुआ है कि वह अपने बिना श्रद्धा को सुखी नहीं देख सकता। पुत्र और पति की प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख आज कल के मनोविश्लेषण शास्त्र में आता है किन्तु यहाँ पर यह पूर्ण-तया व्यक्त हो गया है।

तुम फूल उठोगी लतिका सी
कम्पित कर सुख सौरभ तरङ्ग;
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
बन-बन बन कस्तूरी कुरङ्ग।

मनु वहाँ चले जाते हैं किन्तु श्रद्धा से पृथक होते ही उनको पश्चाताप और विषाद घेर लेता है। वे अपने को नियत चक्र का शिकार पाते हैं। यह भी प्रसादजी के अभिमत विषयों में से है।

इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही
खोखली शून्यता में प्रति पद असफलता अधिक कुलाँच रही
पावस रजनी में जुगुनू गण को दौड़ पकड़ता मैं निराश
× × उन ज्योति कणों का कर विनाश।

मनु को श्रद्धा के छोड़ने के लिए काम भी बहुत फटकारता है 'तुम भूल गये पुरुषत्व मोह से कुछ सत्ता है नारी की' और शाप भी देता है। यहाँ पर मनु श्रद्धा के हृदय-पक्ष से हटकर इड़ा के बुद्धि-पक्ष की छाया में आते हैं। इडा सारस्वत देश, जो बुद्धि का प्रतीक है और जिसमें देवताओं और दानवों का युद्ध हो चुका है, की रानी है। वह कर्म और विचार की अधिष्ठात्री देवी है। उसका रूप ही तर्कमय और ज्ञानमय था।

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल

× × × ×

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये

इड़ा मनु को सारस्वत देश का राज करने को कहती है। इड़ा के साथ रहने से मनु की अध्यक्षता में विज्ञान-प्रधान सभ्यता का विकास होता है। कामायनी मे सभ्यता की तीनों श्रेणियाँ आ जाती हैं। स्वयं मनु मृगया वाली सभ्यता के पोषक थे। श्रद्धा कृषि और पशु-पालन की सभ्यता के पक्ष में थी। इड़ा के संयोग से मनु, विज्ञान-प्रधान सभ्यता के जन्मदाता बने। बुद्धि के साथ उनको वैभव भी मिला, उसमें दैव-कोप हुआ। मनु वैभव से ही सन्तुष्ट न थे। वे स्वयं इड़ा पर अधिकार जमाना चाहते थे।

बुद्धि का दुरुपयोग विनाश का कारण बनता है। मनु की प्रजा विद्रोह करने लगी और युद्ध छिड़ गया। मनु अपनी दी हुई वैज्ञानिक सभ्यता का अहसान जतलाते हैं। उनकी प्रजा उस सभ्यता का तिरस्कार कर उत्तर देती है—

हम संवेदन शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।
प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

इस उत्तर में गांधीवाद के सरल प्राकृतिक जीवन का पक्ष लिया है। मनु संग्राम में आहत होकर मूर्छित हो जाते हैं।

श्रद्धा इस सब व्यापार को स्वप्न में देख चुकी थी। वह अपने पुत्र मानव को साथ लेकर मनु की खोज में चल दी। श्रद्धा सारस्वत देश में पहुँचकर इड़ा को मनु की विफलता पर सहृदयतापूर्ण विचार करती हुई पाती है। मनु श्रद्धा और कुमार को देखकर कृतज्ञता से भर गये और उससे इड़ा की छाया से बाहर ले जाने के लिए कहने लगे। मनु को श्रद्धा का महत्त्व और उसके प्रेम का मूल्य प्रतीत होने लगा।

नहीं पा सका हूँ मैं जैसे
जो तुम देना चाह रही,

क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी
मधु धारा हो ढाल रही।
सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि-तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।

यहाँ पर फिर हृदयवाद की विजय होती है, किन्तु मनु मोह के बन्धन में अधिक नहीं रहना चाहते थे।

वे रात्रि में ही भाग निकले। उनके हृदय में पराजय की लज्जा और बदला लेने की अशक्तता काम कर रही थी। श्रद्धा के संयोग हो जाने पर मनुष्य सङ्घर्ष में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

सुबह उठते ही श्रद्धा, इड़ा और कुमार तीनों ही मनु की खोज में निकलते हैं। इड़ा अपने को सबसे अधिक अपराधिनी समझती थी। उसने रास्ते में पश्चाताप भरे शब्दों में श्रद्धा से क्षमा याचना की। श्रद्धा ने इड़ा को उसकी न्यूनता बतलाई।

"बन विषम ध्वान्त !
सिर चढ़ी रही ! पाया न हृदय
× × ×
जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह,
ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर,

'सिर चढ़ी' में अभिधा और लक्षणा के अर्थों का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। बुद्धि मस्तिष्क में रहती है। यहाँ पर प्रसादजी ने जीवन मीमांसा का एक सिद्धान्त श्रद्धा के मुख से कहलाया है। जीवन के रहस्य की प्राप्ति ब्योरे (Detail) में पड़कर नहीं मिलती। जीवन को उसकी पूर्णता में व्यापक दृष्टि के साथ देखने में हम रस ले सकते हैं। लहरों के गिनने की अपेक्षा हमको उसके पूर्णप्रवाह का आनन्द लेना चाहिए। श्रद्धा ने यद्यपि इड़ा को फटकार बतलाई थी तथापि वह उसका महत्त्व जानती थी। सच्चा श्रद्धावान विरोध नहीं कर सकता। वह गुण ग्राहक होता है इसीलिए कामायनी अपने कुमार को इड़ा के साथ कर देती है। वह जानती थी कि दोनों के साथ रहने में दोनों का ही नहीं वरन् सारी मानव जाति का कल्याण है।

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार,
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय,
सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।"

श्रद्धा भी कर्म के विरुद्ध नहीं है किन्तु यह विषमता उत्पन्न करने वाले कर्म नहीं चाहती। यह सब-प्राणियों की समरसता की इच्छुक है। समरसता शैव दर्शन का शब्द है। शैव अद्वैतवादी दर्शन है। अद्वैतवाद में विषमता को स्थान नहीं।

इड़ा और मानव को विदा करके, श्रद्धा ने मनु को नदी के एकान्त कूल पर लेटा हुआ पाया। श्रद्धा उनको सहारा और प्रोत्साहन दे उस उच्च शिखिर पर ले जाती है जहाँ महा हिम का धवल हास उल्लसित होकर स्वय-नृत्य करते हुए नटराज की मूर्ति बन रहा था। बिना श्रद्धा के मनुष्य को भगवान् के दर्शन नहीं मिलते और दर्शन मिलकर ही रहस्य का उद्घाटन होता है, हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है और आनन्द की प्राप्ति होती है।

मनु के चरण शिथिल हो जाने पर भी श्रद्धा उन्हें और भी उच्च भूमि पर ले जाती है। वहाँ मनु को तीन बिन्दु दिखाई दिए—

त्रिदिक, विश्व, आलोक बिन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे,
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।

ये बिन्दु इच्छा, क्रिया और ज्ञान के थे। अलग-अलग थे। इच्छा का रङ्ग तो भावमूलक होने के कारण लाल था, कर्म का रङ्ग कठिन लोह-शृङ्खला से सम्बन्ध होने के कारण काला और ज्ञान का रङ्ग श्वेत कहा है। यही स्वर्ण लोह और रजत के रङ्ग हैं। श्रीमद्भागवत में मय दानव के तीन रथों का उल्लेख है। वे रथ सोने, चाँदी और लोहे के थे। वे इतने बड़े थे कि पुर से दिखाई पड़ते थे—'सनिर्माय

पुरस्तिस्रो हैमोरी 'यायसी त्रिभु' इसी से ज्ञान, इच्छा और क्रिया क वृत्तों के मिल जाने को त्रिपुरदाह कहा है।

श्रद्धा इच्छा लोक का इस प्रकार परिचय देती है—

वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कन्दुक सा सुन्दर,
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।
चिर-अनन्त का यह उद्गम है
पतझर होता एक ओर है,
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख दुख बँधते, एक डोर हैं।

कर्म लोक का नीचे के शब्दों में परिचय दिया गया है—

कर्म चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा,
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।
श्रममय कोलाहल, पीड़न मय
विकल, प्रवर्त्तन महायन्त्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

ज्ञान-क्षेत्र के विषय में श्रद्धा मनु को इस प्रकार बतलाती है—

"प्रियतम! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता,
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता।
यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती,
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती।

भाव लोक में सब सुख दुख एक साथ बँध जाते हैं। कर्म लोक में नियतिचक्र चलता है जिसमें मनुष्य परवश हो जाता है किन्तु

अपनी मूढ़ता के कारण अपने को कर्त्ता मानता है (कर्ताऽहं मन्यते)।

अन्ध प्रेरणा से परिचालित
कर्ता में करते निज गिनती।

ज्ञान में भेद और विवेक रहता है। यहाँ पर व्योरे की ओर ज्यादा ध्यान दिया जाता है। यहाँ प्राप्य मात्र मिलता है किन्तु भाव लोक की भी तृप्ति नहीं। यद्यपि इड़ा में ज्ञान और कर्म का योग दिखाया गया था और श्रद्धा में भाव और कर्म का। तथापि यहाँ पर उनको अलग दिखाकर तीनों के पृथक और स्वतन्त्र रहने की अपूर्णता बतलाई गई है। समन्वय की आवश्यकता तभी समझ में आती है जब उनके पृथक रहने का दोष समझ में आ जाय।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

श्रद्धा भी यद्यपि भावनावृत्ति है तथापि जिस अंश में तीनों के समन्वय के लिये भावना की आवश्यकता है उस अंश में वह अलग रखी गयी है। समन्वय कराने वाला कोई अलग ही होता है। मनुष्य श्रद्धामय होकर दोनों का समन्वय कर सकता है और तीनों के समन्वय में ही आनन्द और कल्याण की प्राप्ति होती है, श्रद्धा की स्मिति-रेखा से तीनों विन्दु मिल जाते हैं—

महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

× × × ×

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

मनु श्रद्धा के साथ अकेले नहीं रह पाते। फिर तो पूर्ण समन्वय न होता। इड़ा भी वहाँ मानव तथा अपनी प्रजा समेत आ जाती है।

उनके साथ एक वृषभ भी था जो धर्म का प्रतीक है। धर्म को साथ लेकर ही हम आनन्द के लोक में पहुँच सकते हैं। आनन्द-लोक को प्राप्त कर धर्म अनावश्यक हो जाता है। वहाँ उसका उत्सर्ग कर दिया जाता है। वहाँ पहुँच कर इड़ा ने श्रद्धा के आगे सिर झुका दिया था। यही हृदयवाद और बुद्धिवाद का समन्वय है—

भर रहा अङ्क श्रद्धा का
मानव उसको अपना कर;
था इड़ा शीश चरणों पर
वह पुलक भरी, गद्‌गद् स्वर—

मनु ने भी उदारता पूर्वक इड़ा से अपना बैर भाव दूर कर दिया और कहने लगे—

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।
शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।
× × ×
सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता!

जहाँ ऐसे उदार भावों की जाग्रति हो जाय वहाँ जीवन में आनन्द ही आनन्द दिखाई पड़ता है। सारी प्रकृति एक अलौकिक आल्हाद से स्पन्दित हो जाती है। उस दशा को प्रसादजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

चिरमिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरङ्गायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन।

× × ×

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाण;
उस लास रास में विह्वल
थी हँसती सी कल्याणी।
समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

प्रसादजी ने वर्तमान रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा है कि इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। उपर्युक्त पंक्तियों में अहं और इदं का समन्वय है और उसी के साथ जड़ और चेतन की समरसता तथा उससे उत्पन्न होने वाले आनन्द का उद्घाटन है। कामायनी का अन्तिम दृश्य रहस्यवाद का अच्छा उदाहरण है।

प्रसादजी शैव मत के अनुयायी थे जिसमें आनन्द को विशेष महत्त्व दिया गया है। प्रसादजी का कथन है कि आर्य लोग आनन्दवाद के मानने वाले थे। उनके हृदय में जीवन का उल्लास था जो यज्ञों में उद्वेलित हो उठता था। जो आर्य लोग इस आनन्दवाद से सहमत न हो सके वे व्रात्य कहलाये। वे तर्कवाद की ओर गये और आदर्शवादी बने। कामायनी के समझने में प्रसादजी के रहस्यवाद शीर्षक लेख से दिया हुआ नीचे का उद्धरण विशेष रूप से सहायक होगा—

"उपनिषद् में आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गई थी, जो आनन्द सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य व्रात्यों में (जिनमें बौद्ध जैन आदि सम्मिलित हैं) तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हो रहा था वहाँ प्रधान वैदिक धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द का सिद्धान्त भी प्रचारित हो रहा था। वे कहते थे—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (मुण्डक)।

नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठ) आनन्दमय आत्मा की उपलब्धि विकल्पात्मक विचारों और तर्कों से नहीं हो सकती।"

कामायनी में आर्यों के इसी मान्य सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इस आनन्दवाद में तप द्वारा इन्द्रियों को कष्ट देने की आवश्यकता नही और न मन के निग्रह की, क्योंकि शैवागमों के अनुयायी सारे विश्व को शिवमय मानते हैं फिर मन शिव को छोड़ कर जायगा कहाँ बाहर भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा कौनसा स्थान है।

इस प्रकार कामायनी में प्रसादजी के सभी मान्य सिद्धान्तों का समावेश हुआ है और इसमें उनकी कला की अन्तिम परिणति है।



कामायनी

मनु का चरित ऐसा नहीं है, जो स्वयं ही काव्य हो और जिसको छूकर किसी का भी कवि बन जाना सहज सम्भाव्य हो सके। अर्थात् महाकाव्य के लिए बनी बनाई जिन महान घटनाओं की आवश्यकता होती है उनका एक प्रकार से यहाँ अभाव है। इसमें आदि पुरुष और आदि नारी की कहानी है, अतः विकसित जीवन की जटिलताएँ उनके सामने नहीं है, कहीं-कहीं तो मानसिक-वृत्तियाँ भी मूलरूप में आयी हैं। कामायनी साढ़े तीन चरित्रों की कथा है। फिर भी विदग्ध पाठक जानते हैं कि खड़ी बोली के इस युग में महाकाव्य के नाम से जो पाँच-छः पुस्तकें प्रचलित की गयी उन सभी से अधिक सफलता कामायनी को मिली है। महाकाव्य में महान कथा ही सब कुछ नहीं है, काव्य की महानता और प्रबन्ध की अक्षुण्णता भी कोई चीज है; 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति' का भी महत्त्व है। इन तत्त्वों का संयत निर्वाह 'प्रसादजी' द्वारा जैसा हुआ, इस काल के किसी अन्य कवि द्वारा नहीं।* अतः भावावेश में किसी काव्य ग्रन्थ की प्रशंसा में जो लिखते हैं कि कामायनी किसी पुस्तक विशेष के सामने 'मनोविज्ञान की ट्रीटाइज़' सी लगती है, वे प्रसादजी की प्रतिभा का स्पष्ट शब्दों में अपमान करते हैं।

वैसे तो पूरी कथा और उसकी प्रबन्ध कल्पना ही—सरल सुन्दर है। पर श्रद्धा-मनु के आकर्षण से लेकर मिलन तक की गाथा तो बड़ी आकर्षक है। आकर्षण के मूल में प्रायः सौन्दर्य रहता है। प्रलय काल में मनु के भीतर उपेक्षामय जीवन का जो मधुमय स्रोत

---

* कामायनी में प्रकृति के विभिन्न रूपों के चित्रण, सांस्कृतिक विकास और सांस्कृतिक सङ्घर्षों के वर्णन, विभिन्न छन्द, रस, रीतियाँ, अलङ्कार आदि उसके महाकाव्यत्व के पोषक हैं। —सम्पादक

बह रहा था श्रद्धा के मधुर सौन्दर्य की ढलकाऊ भूमि पाते ही वेग से वह उठा। उसे सामीप्यलाभ के लिए कोई विकट प्रयत्न नहीं करना पड़ा—न राम की तरह धनुष तोड़ना पड़ा, न रत्नसेन की तरह चोर बनना पड़ा, न सलीम की तरह किसी अफगान की हत्या करानी पड़ी और न एडवर्ड की तरह साम्राज्य ही छोड़ना पड़ा। यहाँ तक कि न रात के बारह बजे इत्र में डुबा कर पत्र लिखने पड़े, और न आँसुओं से तकिये भिगोने पड़े। पर आगे चलकर ज्योत्सनास्नात मधु यामिनी के अधीर पुलकित एकान्त वातावरण में नर के विकल अशान्त वक्ष से आवेग की चिनगारियों का फूटना और नारी का गम्भीरता से 'मत कहो पूछो न कुछ' कहना और उसके पश्चात—के पलों को सामान्य नारी के जीवन के उस मधुर बसन्त को—जिस असामान्य रङ्गीनी और सधी तूलिका से कवि ने चित्रित किया है, वह काव्य की अपना वस्तु है और निश्चित ही वह 'मनोविज्ञान' की किसी 'ट्रीटाइज' में नहीं मिलेगा।

मनु चिन्तनशील प्राणी हैं। कामायनी की वे उक्तियाँ जो इस काव्य-भवन की जगमगाती मणियाँ हैं, प्राय मनु के मुख से ही निकली हैं। प्रारम्भ में उन्होंने अपने को 'अमरता का जर्जर दम्भ' कहा है। इस दम्भ ने उनका पीछा बहुत दिन तक किया। 'अहं' दम्भ का पिता है और ईर्ष्या 'अहं' की बहिन। 'अहं' और ईर्ष्या के कारण उन्हें कभी शान्ति न मिली। पर मनु सबसे पहले पुरुष हैं और 'पुरुष' शब्द का उच्चारण करते ही पौरुष का भाव स्वयं जाग्रत होता है। कवि ने प्रथम सर्ग में ही उनके शरीर की दृढ़ गठन और सबलता का परिचय देने के लिये उनके अवयव की दृढ़ माँस पेशियों और स्वस्थ-शिराओं की चर्चा की है। आखेट-व्यसनी मनु की कल्पना भी एक दृढ सबल स्फूर्तियुक्त पुरुष की भावना ही सामने लाती है। और आगे चल कर जब प्रजा और प्रकृति के सम्मिलित विद्रोह का सामना करने के लिए मनु अपना धनुष उठाते हैं तो शक्ति का दुरुपयोग करने से यद्यपि अत्याचारी या बर्बर कह उनकी असंयत बुद्धि और अनियन्त्रित हृदय का तिरस्कार करने की इच्छा भी जागरित होती है, पर उनके पौरुष पर एक प्रकार का आश्चर्य ही होता है।

श्रद्धा के हृदय का निर्माण अनन्त स्नेह और अगाध कोमलता से हुआ है। उसकी ममता पशुओं तक विस्तृत है। मनु दो बार उसे

छोड़ कर भागते है, और श्रद्धा दोनों बार मन में मैल न लाती हुई मनु के हृदय का बोझ हल्का करती है। दूसरी बार मनु जब प्रेम में विश्वासघात के भी दोषी हैं, श्रद्धा का उन्हें अपनाना नारी हृदय की अनन्त क्षमा का परिचय देता है। यहाँ नारी ने नर को पराजित कर दिया। सच पूछो तो प्रेम में नारी ने नर को सदैव पराजित किया है— क्या सीता ने राम को, क्या राधा ने कृष्ण को और क्या गोपा ने बुद्ध को ?

इड़ा आकर्षक है, प्रेरणामयी है। कवि ने कुछ तो रूपक के आग्रह से और कुछ विशेष उद्देश्य से उसे कठोर-हृदय बनाया है। उसकी दृढ़ता से मनु के अह को धक्का लगता है जिसमे उसका उर कोमल होकर श्रद्धा की उत्सर्ग-भावना से पिघलता है। श्रद्धा के स्नेह का अपमान कर जब मनु इड़ा से प्रेम-याचना करते हैं तो इच्छा होती है कि यह नारी इनके साथ रूखा व्यवहार कर इस बात को प्रत्यक्ष करे कि प्रेम में प्रवञ्चना का क्या अर्थ होता है। उस दिन की उस प्रवञ्चना का फल आज भी प्रत्येक निराश प्रेमी और अभागी प्रेमिका को उठाना पड़ रहा है। शतवृश्चिकों के दंशन-सा यह अमर सत्य सभी के पीछे गया है—

जिसके हृदय सदा समीप है
वही दूर जाता है,
और क्रोध होना उस पर ही
जिससे कुछ नाता है।

वैभव-विहीन सन्ध्या के उदास वातावरण में कामायनी का विरह-वर्णन कितना स्वाभाविक और विषाद को घनीभूत करने वाला है,और कितने थोड़े शब्दों में, किस मार्मिकता से व्यक्त किया गया है। किसी के विरह-वर्णन में एक साथ आप सवासौ पृष्ठ काले करदें तो इससे यह तो पता चल जायगा कि आप एक बात को फैला कर कह सकते हैं या किसी के वियोग की कथा को एक से ढङ्ग पर दस विरहिणियों के द्वारा व्यक्त कराएँ तो यह भी पता लग जायगा कि विरह एक प्रकार का दौरा है जो कभी किसी को और कभी किसी को उठाता है। महाकाव्य में वर्णन के विस्तार का जो अधिकार प्राप्त है उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि आप उसे ऐसा विस्तार दें कि वह

अपना प्रभाव ही खो बैठे। पाठकों के मस्तिष्कों के पात्रों की भी एक माप है जिसमें अधिक रस डालने से उछलने लगता है। अधिक विस्तृत वर्णन में समरसता नहीं रह सकती, अत' अच्छे कवि इस बात का ध्यान रखते हैं कि अपनी ओर से उचित परिमाण में ही किसी रस को मिलावें। अशोक वृक्ष के नीचे बैठी सीता का विरह-वर्णन कितना संयत है, कितना संक्षिप्त और कितना प्रभावशाली! इसी सुरुचि का परिचय प्रसादजी ने 'स्वप्न' सर्ग में दिया है। प्रकृति के प्रतीकों के सहारे कामायनी के क्षीण शरीर का आभास, प्रकृति के प्रसन्न वातावरण के सम्पर्क से पीड़ा की तीव्रता का अनुभव, अतीत की मधुर घड़ियों का स्मरण, थोड़े से आँसू और बालक के 'माँ' शब्द के उच्चारण से एक गहरा आघात—और बस।

प्रकृति को लेकर कामायनी में प्रसादजी की विशेषता है उसके भयङ्कर विनाशकारी स्वरूप को चित्रित करना। शशि की रेशमी विभा से भरी जल की जो लहरें नौका-विहार के समय साड़ी की सिकुड़न-सी प्रतीत होती हैं, वे हमें निगल भी सकती हैं, जो अनिल केवल इसलिए गन्धयुक्त है कि वह किसी की भावी-पत्नी के सुरभित मृदु-कचजाल से गन्ध चुरा लाया है, वह घनीभूत होकर श्वासों की गति रुद्ध भी कर सकता है, जो विद्युत किसी के अङ्ग की आभा और चञ्चलता का उपमान बनती है और वर्षा की बूँदों को अपनी चमक से सोने की बूँदें बनाती है वह कहीं गिर कर वज्र रूप भी धारण करती है, और 'गरल-जलद की खड़ी झड़ी' सहायक भी होती है। कामायनी के प्रारम्भ में पञ्चभूत के भैरव मिश्रण से जो प्रलय की हाहाकार मय स्थिति उपस्थित हुई, 'प्रसाद' द्वारा प्रकृति के उस दुर्दमनीय स्वरूप का चित्रण चमत्कृत करने वाला है—

"उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी
चली आरही फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों-सी।"

जहाँ प्रकृति के मनोमुग्धकारी स्वरूप का अङ्कन हुआ है वहाँ दो विशेष बातें मिलती हैं—स्थान में हिमालय के वर्णन और समय की

दृष्टि से सन्ध्या और रात्रि के चित्रों की भरमार। हिमालय अधिकतर पात्रों की लीला-भूमि होने से बार बार कवि के दृष्टिपथ में आया है। दूर-दूर तक विस्तृत हिम पर नव कोमल आलोक का बिखरना, और आलोक का अगणित हिमखण्डों पर पड कर अगणित हिमकर का सृजन करना! कितना भव्य दृश्य है! सन्ध्या और तारे भरी ज्योत्स्ना मयी यामिनी के अनेक रम्य चित्र भी कामायनी में बिखरे पड़े हैं। पर सबसे सुन्दर और पूर्ण, आशा सर्ग में रजनी का एक मधुर चित्र है जिसमें चल चित्र का सौन्दर्य भरा पड़ा है। विश्व क्या है? एक कमल! रजनी क्या है? एक मृदुल मधुकरी और ज्योत्स्ना नही है, वह मधुकरी रजत-कुसुम के नव पराग को मस्ती में भर कर उड़ा रही है। अब हिमगिरि और सन्ध्या दोनों के संयोग का एक संश्लिष्ट चित्र देखिए—

"सन्ध्या-घनमाला की सुन्दर
ओढे रङ्ग-बिरङ्गी छींट;
गगन-चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट।"

श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रसादजी की विचार-धारा में जो कोई दोष ढूँढ़े हैं उनमें से एक यह है। श्रद्धा इड़ा से कहती है कि "सिर चढी रही पाया न हृदय!" क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में नही कहा जा सकता था कि "रस पगी रही पाई न बुद्धि?" जब दोनों अलग-अलग सत्ताएँ करके रखी गयी हैं तब एक को दूसरी से शून्य कहना, और दूसरी को पहली से शून्य न कहना, गड़बड़ में डालता है।"

इस आक्षेप का छोटा-सा उत्तर यह है कि शुक्लजी जिसे भूल कहते हैं, उसका ज्ञान 'प्रसादजी' को था। कामायनी ने इड़ा के हाथ जब कुमार को सौंपा है।तो जीवन की समरसता और सफलता के लिए उसने श्रद्धा और बुद्धि दोनों के योग पर जोर दिया है। एक के बिना दूसरा अधूरा ही है। इसी से उसने कहा है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय।

'रहस्य' शीर्षक सर्ग में श्रद्धा ने मनु की इच्छा का रागारुण, कर्म का श्यामल और ज्ञान का रजतोज्ज्वल तीन लोक दिखाये हैं, और उनके सामञ्जस्य में जीवन का वास्तविक सुख बताया है। 'केवल इच्छा' पगु है। उसे कर्म का सहारा चाहिये। 'केवल कर्म' अन्धा है। उस पर विवेक या ज्ञान का नियंत्रण होना चाहिये। मनु दोनों स्थितियों को देख चुके हैं। 'केवल ज्ञान' भी संसार में विषमता फैलाने वाला है क्योंकि ज्ञानी जब 'इच्छाओं को झुठलाते हैं' तो संसार का विकास कैसे होगा ?

प्रसादजी के नाटकों की क्लिष्ट उक्तियों, उनमें आये गीतों तथा उनके काव्य-ग्रन्थों—विशेषकर 'आँसू' और 'कामायनी' को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक भाषा और भावाभिव्यक्ति का सम्बन्ध है वहाँ 'प्रसाद' जी का अपना एक स्टैंडर्ड था जिससे नीचे वे उतरना न चाहते थे। मैंने कहीं यह भी लिखा देखा है कि 'कामायनी' कालान्तर में एक लोक प्रिय रचना होगी। मेरा अपना विश्वास है कि 'कामायनी' को चाहे और कुछ गौरव प्राप्त हो, पर लोक-प्रियता का यश उस अर्थ में उसे न मिलेगा जिस अर्थ में तुलसी, सूर, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्दजी की रचनाओं को मिला है। कामायनी साहित्यिकों की प्रिय वस्तु रहेगी। लोक-दृष्टि से परखें तो 'प्रसाद' जी में 'प्रसाद' गुण की कमी है।

प्रसादजी के मस्तिष्क की एक विशेषता है नारी को कभी-कभी पुल्लिङ्ग में सम्बोधन करना। उर्दू में यह अत्यन्त सामान्य प्रवृत्ति है, पर हिन्दी के कवियों में यह रोग 'प्रसादजी' ही को था। आँसू में भी इसका आभास मिलता है। 'कामायनी' में भी श्रद्धा को मनु पुल्लिङ्ग में सम्बोधन करते हैं। इसका इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर हो सकता है कि कभी कभी इस प्रकार बोलना उन्हें सम्भवतः प्यारा लगता हो। लिङ्ग और वचन के साथ भी वे पूरी स्वतन्त्रता लेते थे। कामायनी में ही आधे दर्जन से ऊपर ऐसे स्थल हैं जहाँ लिङ्ग-वचन की गडमड़ी मिलेगी। पता नहीं इस विषय में वे कवि स्वातन्त्र्य का प्रयोग करते थे या 'पन्त' जी के समान उनकी दृष्टि में भी शब्दों की 'श्री सुकुमारता' आदि बिखर जाती थी। आज तक मेरी समझ में यह

नही आया कि स्कन्दगुप्त नाटक में उन्होंने 'खिले सूल सब गिरा दिया है' के स्थान में 'खिले फूल सम गिरा दिया है' क्यों नही किया। इससे वचन का दोष भी दूर हो जाता और इस पक्ति का 'हृदय धूल में मिला दिया है' से भी सुन्दर अर्थ बैठ जाता।

'कामायनी' हिन्दी के एक प्रतिभाशाली कवि की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है और चिन्ता, आशा, प्रेम, ईर्ष्या, क्षमा, आनन्द आदि सार्वकालिक एव सार्वदेशिक भावनाओं को समेटने के कारण प्रभातकालीन वायु की भाँति इसका रस नित्य नवीन रहेगा।

कामायनी में मनस्तत्त्व का विवेचन

कामायनी प्रागैतिहासिक महाकाव्य होते हुए भी मनस्तत्त्व का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत करती है। व्यष्टि और समष्टि-रूप से मानवता का विकास किन क्रमिक भावनाओं की वीथियों से होकर हुआ है, इसी की रूपकात्मक व्यञ्जना कामायनी की कथा का उद्देश्य है। 'आमुख' में प्रसादजी कहते हैं—"जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को, देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नए युग की सूचना मिली।.......यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नही।" यद्यपि इससे यह व्यक्त होता है कि इतिवृत्तात्मक इतिहास का भावात्मक वर्णन-मात्र कवि को अभीष्ट था, फिर भी कवि मूलकथा को उसी रूप में, उन्ही अंशों में ग्रहण करता है जिसमें उसकी आध्यात्मिक अथवा रूपक रूप में मनोवैज्ञानिक व्याख्या अनिवार्य हो जाती है। उन्होंने कथा के सार रूप सत्य को रखा है, केवल व्यक्तित्त्व अथवा इतिहास को नही।

वैवस्वत मनु की कथा शतपथ ब्राह्मण में सिलसिलेवार रूप से वर्णित है। वही से प्रसादजी ने ली; छान्दोग्योपनिषद् अथवा पुराणों की कथा को आधार नही बनाया। यद्यपि इड़ा के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक विवाद है, फिर भी मानवता के मनोवैज्ञानिक विकास की कहानी सत्य है।

इस प्रकार घटनाओं के ही नही, प्रकृति-चित्रण के मूल में भी कुछ ऐसे तात्त्विक भाव हैं जिनके क्रमिक विकास के आधार पर मानव संस्कृति की प्रगति हुई है। घटनाओं के नामकरण के आधार भी ये ही मूलभूत भावनाएँ हैं। पर संस्कृत शैली पर जब प्रसादजी ने सर्गों का नामकरण किया तो नवीनता यह रखी कि किसी सर्ग के अन्तर्गत उसका शीर्षक सम्बन्धी भाव का ही नही, वरन् उसके सम्बद्ध सभी भावनाओं का समावेश किया। ये भाव इन्द्रधनुप के विविध रङ्गों से समन्वित हैं। घटनाएँ और प्रगतिवर्णन इन मूल-भावनाओं की प्रतिच्छाया मात्र हैं। उद्देश्य इन्ही के क्रमिक उदय और पर्यवसान द्वारा मानवता का विकास दिखलाना है।

प्रथम 'चिन्ता' सर्ग है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में जल है—

नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।

उसी भाँति मानवता के आरम्भ में चिन्ता। प्रलय-कालीन जल-प्लावन के उपरान्त मनु चिन्तित उदास बैठे हैं। प्रलय-कालीन जल-नीरवता है। प्रकृति मानव भावनाओं की अनुगामिनी भी है और उनकी प्रेरणा देने वाली भी। 'चिन्ता' सर्ग में जो अन्य भावनाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं—

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा,
चिन्ता तेरे हैं कितने नाम।

एकाकी अतीत चिन्तन का फल नही होता, चिन्ता का अन्त निराशा से होता है। प्रकृति भी इस सर्ग के अन्त में कुहासा से भरी छोड़ दी गई। 'आशा' सर्ग में अरुणोदय होता है—

उषा सुनहले तीर बरसती,
जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई।

प्रभात का सौन्दर्य देखिए—

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय पिंग पराग।

यह स्वर्णिम रमणीयता कौतूहल को जन्म देती है कहाँ वह विध्वंश और कहाँ यह रमणीय सौन्दर्य !

इस कौतूहल का पर्यवसान इस विश्वास में होता है कि इन सभी परिवर्तनों के बीच कोई चिरन्तन, अनन्त अपरिवर्तन शील भी छिपा है—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ?
हे विराट् ! हे विश्वदेव !
तुम कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गँभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान !

पर यह केवल सागर का गान नही मनु के हृदय की आवाज भी है।।

इसी अनन्त व्यापक तत्त्व के विश्वास के साथ (जिसमें प्रसाद का रहस्यवाद निहित है) आशा का उदय होता है और तब अहं की भावना अपना रूप धारण करती है—

मै हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में !
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में !

यही 'अहं' जीवन के प्रति अनुराग का जनक है जिसकी प्रेरणा मनु को पाकयज्ञ में प्रवृत्त करती है। वे थालियाँ चुन कर अग्नि को प्रज्ज्वलित करते हैं। पूर्व संस्कृति का जिसने प्रालेय लहरों में अस्तित्व खो दिया था अब पुनरुदय होता है। यज्ञ से अवशिष्ट अन्न वे किसी सम्भाव्य जीवित अपरिचित व्यक्ति के लिये रख देते हैं। क्योंकि देवों की निर्बाध आत्मतुष्टि मूलक संस्कृति की प्रालेय असफलता ने उन्हें

सहानुभूति का पाठ पढ़ा दिया था। जहाँ मनु के हृदय मे यह सहानुभूति उदित होती है वहाँ प्रकृति में चाँदनी खिलती है मानो मानव हृदय और प्रकृति किन्ही अदृश्य सूक्ष्म तन्तुओं से जुडी हो! संवेदनशील हृदय मनु को अब अकेलापन खलने लगता है। प्रकृति की नेश मधुरिमा उनके सूने हृदय में समा जाती है। और वहाँ माधुर्य और प्रेम की आकांक्षा तरङ्गित होने लगती है। इस प्रकार 'आशा' सर्ग में क्रमशः ये भावनाएँ हैं—

कौतूहल, विश्वास, आशा, 'अह-भाव', जीवन के प्रति अनुराग, पूर्व संस्कृति का पुनरुदय, सहानुभूति, सवेदनशीलता, माधुर्य और प्रेम की आकांक्षा।

इसके पश्चात् आशावान् मनु श्रद्धावान् होते हैं वस्तुतः श्रद्धा ही हृदय की वह वृत्ति है जो किसी भी निराश हृदय को सान्त्वना, अवलम्ब, जीवन देने में समर्थ है। श्रद्धा में आत्म-समर्पण और है—

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

श्रद्धा में ही वह क्षमता है जो असफल, ठुकराए प्राणों को उत्साह की तरङ्गों से गतिशील बना सकता है और वही मानवता की विजय-कामना करती है श्रद्धा काम की लड़की है—कामगोत्रजा श्रद्धा। अतः जहाँ श्रद्धा से सान्त्वना, आत्म-समर्पण, दया, माया, ममता, मधुरिमा, विश्वास, उत्साह और मानवता की मङ्गल-कामना की भावनाएँ सम्बद्ध हैं वहाँ उसमें अभिलाषा का मूल भी है।

पर अभिलाषाओं की—काम की, कभी तृप्ति नही होती, क्योंकि वह स्वार्थ, सौन्दर्य और ऐन्द्रिकता के सहारे वासना में परिवर्तित हो जाता है, अतः काम के बाद 'वासना' सर्ग है। वासना के उन्माद के आतिशय्य से प्रणय-भाव के उद्घाटन के पश्चात् लज्जा स्वाभाविक है। इसी में श्रद्धा का नारीत्व है। इस प्रकार—चिन्ता और निराशा में एकाकी अतीत-चिन्तन, फिर कौतूहल, फिर क्रमशः विश्वास, आशा, जीवन के प्रति अनुराग, संवेदना, फिर श्रद्धा और तदुपरान्त विकास और कामवासना तथा इनके आतिशय्य से लज्जा—यही मनु के जीवन की भावात्मक पहली सीढ़ियाँ रही और यही आज भी प्रत्येक के जीवन का मनोवैज्ञानिक क्रम रहता है। जो भाव-

नाओं के नाटक पितामह मनु ने खेले थे, आज भी सभी उन्हें खेलते हैं—सभ्यता का विकास भी इसी सरणी पर हुआ है।

मनु की हिंसा-वृत्ति जाग्रत होती है। ऐन्द्रिक वासना की दिशा ही और कौनसी होती? मनु—मनन अथवा मन के प्रतीक। मन में हिंसा की उत्पत्ति से कर्म में प्रवृत्ति होती है—मनु को भी हुई थी। आज भी सभी को होती है। हिंसात्मक कर्म की ग्लानि अनुगामिनी है। पर हिंसा में एक बार प्रवृत्त हो जाने पर कर्म-शृङ्खला मजबूत हो जाती है। कर्म फल के रूप में, अधिकार का भूखा है। पर इसका अनिवार्य परिणाम होता है अतृप्ति, श्रद्धा से विरक्त अथवा श्रद्धा हीनता, जिसके मूल में सर्वाधिकार पिपासु मन की असफलताजनित ईर्ष्या की भावना है। यह बुद्धि की ओर संकेत करती है जिसका प्रतीक है इडा। इड़ा का एक चित्र देखिए—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल!
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान!
था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा जीवन रस-सार लिए!
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए!

इड़ा की मन्त्रणा से ज्ञान-विज्ञान की उन्नति होती है, अधिकार बनते हैं। बुद्धिवाद के द्वारा यन्त्रों पर आधारित कृत्रिम सभ्यता का विकास होता है। पर नियन्ता मनु अर्थात् मन को नियमों का पालन सदा अच्छा है। निर्बाध अधिकारों की अस्वास्थ्यकर तृषा सङ्घर्ष और विप्लव को जन्म देती है। और तब विद्रोहिनी प्रजा के हाथों सत्ताधारी मनु की पराजय होती है। यहाँ प्रसादजी न केवल व्यक्तिगत मनस्तत्त्व के विकास की विवेचना करते हैं, वरन् सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology) की तह में प्रवेश कर इतिहास की प्रेरणाओं का आवरण हटाते हैं। जब समृद्धि उच्छ्वसित हो उठती है तो प्रलय सङ्घर्ष और विप्लव सङ्घटित होते हैं। यह सङ्घर्ष मूर्छाजनक है, नाशकारी है 'इड़ा' की यह उक्ति सत्य ही है—

निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा?

इस बौद्धिक पराजय के अवसर पर श्रद्धा का अनायास उदय होता है जो मन की रक्षा कर लेती है। इडा अपनी हार स्वीकार करती है—

मेरा साहस अब गया छूट !

वैभव, विलास और अधिकारों के प्रति सङ्घर्ष जनित उपेक्षा तथा विराग-भावना निर्वेद की रूपरेखा निश्चित करती है। श्रद्धा का वास्तविक मूल्य अब ही पहचाना जा सकता है। मनु विलास-लालसा को तिलाञ्जलि दे तप के जीवन को अपनाते हैं। परन्तु शुष्क तपस्या श्रांतिजनक है। इस श्रान्ति में श्रद्धा ही का सहारा है। श्रद्धा ही मन को दर्शन की सीमा अतिक्रान्त कर उस रहस्यलोक में ले जाने में समर्थ है जहाँ इच्छा, ज्ञान और कर्म अपने तात्त्विक रूपों में जाने जा सकते हैं। उनकी गुत्थियाँ खुलती हैं। विश्व की समस्त विषमता इन तीनों के उचित सामञ्जस्य के अभाव के कारण हैं। और अन्त में श्रद्धा की ही प्रेरणा से, उसके ही स्मित संकेत से इच्छा, ज्ञान और कर्म का सामञ्जस्य हो सकता है जिससे चेतना शाश्वत आनन्द में मग्न हो जाती है। अस्तित्व की यही चरम सार्थकता है।

इन सभी का सारांश इतना ही है कि श्रद्धा-वृत्ति ही मन को शाश्वत आनन्द तक पहुँचाने में समर्थ है। इड़ा अथवा बुद्धिवाद उसमें बाधक बनता है, पर उसकी पराजय निश्चित है।

मानवता के मानसिक विकास का यह चित्राङ्कन, मनस्तत्त्व की यह अपूर्व समीक्षा संसार के साहित्य में कदाचित ही कहीं मिले। मानवता का महाकाव्य प्रस्तुत कर इसके द्वारा प्रसादजी ने प्रमुख दिशा-साहित्य-स्रष्टाओं के समकक्ष स्थान पाया है। जीवन के इसी मौलिक विश्लेषण के कारण 'कामायनी' अमर रहेगी।

कामायनी का 'काम' सर्ग

जल-प्रलय के बाद मनु की नाव हिमालय की ऊँची चोटी पर जा लगती है। भीगे नयनों से वे प्रलय का प्रवाह देख रहे हैं। देव-सृष्टि के विध्वंस पर अतीत के उन सुखों पर वे चिन्तित हैं। किन्तु जब प्रलय का भयङ्कर दृश्य धीरे-धीरे दूर होने लगा तो सुनहली उषा के साथ मनु के हृदय में भी आशा का सञ्चार हुआ जिसका चित्रण दूसरे सर्ग में हुआ है। आशा का ही व्यक्त रूप है श्रद्धा। श्रद्धा मनो-वृत्ति भी है और कामायनी में नारी भी है। तीसरे सर्ग 'श्रद्धा' में मनु और कामायनी का मिलन होता है। नारी के प्रवेश के साथ घटना चक्र में तीव्रता आती है। वस्तुतः कामायनी के 'कार्य' का प्रारम्भ यहीं से है। दोनों के साक्षात्कार के पश्चात् चतुर्थ सर्ग में काम का चित्रण हुआ है। नारी का आकर्षण मनु के अन्तर्द्वन्द्व का कारण बन जाता है। समस्त सर्ग की घटना को तो एक ही वाक्य में प्रकट किया जा सकता है 'श्रद्धा के सौन्दर्य से आकृष्ट मनु को स्वप्न होता है कि उसे पाना चाहो तो उसके योग्य बनो।' यह अवश्य है कि यह सर्ग, हमारी औत्सुक्य वृद्धि करता है। हम जानना चाहते हैं कि देखें मनु कौन से मार्ग को ग्रहण करते हैं। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से यह दो स्पष्ट भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) नारी के आकर्षण के बाद मन की प्रतिक्रिया जो मनु की स्वगतोक्तियों में अभिव्यक्त हुई है।

(२) काम का मनु को स्वप्न में आदेश।

'कामायनी' घटना-प्रधान नहीं, वृत्ति प्रधान है इसलिए इस काव्य के सम्यक् रसास्वादन के लिए वृत्तियों के स्वरूप-निर्धारण और उनके विश्लेषण को ही विशेषतः लक्ष्य में रखना चाहिए। इसके सर्गों

का नामकरण भी मनोवृत्तियों को लेकर ही हुआ है। प्रसाद ने बड़े उदात्त और व्यापक अर्थ में 'काम' का प्रयोग किया है जैसा कि कामायनी की निम्नाङ्कित पंक्तियों से स्पष्ट है—

काम मङ्गल से मण्डित श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम।

भारतीय शास्त्रों में भी काम की व्यापकता का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है—

कामो जज्ञे प्रथम नैन देवा
आयुः पितरो न मर्त्याः
ततस्त्वमसि ज्यायान विश्वहा महास्ते
काम नमः इति कृणोमि ॥

अथर्ववेद ९।२।१९

अर्थात् हे काम, तू सबसे प्रथम उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ, कोई तुझसे बचा नही। इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सबसे महान् है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो
रेतः प्रथम यदासीत्।
(ऋक् १०। १२९। ४)

अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति के पहले मन की सर्वव्यापिनी बुद्धि का मूल तत्त्व काम प्रकट हुआ। 'एकोहं बहुस्याम्' की भावना से ही सृष्टि का प्रसार हुआ। गीता में भी धर्म से अविरुद्ध काम को ईश्वरीय विभूतियों में शामिल किया गया है। * मनुस्मृति में भी 'यद् यद्धि क्रियते कर्म तत्तद्धि कामचेष्टितम्' कह कर काम की व्यापकता का स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है। भारतीय शास्त्रों में धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ काम की भी चतुर्वर्ग में गणना की गई है। किन्तु काम का अर्थ आज विगड़ गया है। वह इन्द्रिय लिप्सा के अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा है। भार-

---

*धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।
—गीता अध्याय ७-११

जो भी कर्म किया जाता है, वह सब काम की चेष्टा है।
—मनुस्मृति

तीय साधकों और उपदेशकों ने वैराग्य-भाव जागृत करने के लिये क्रोध, लोभ आदि के साथ काम की षड्रिपुओं में गणना की, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में काम को बाधक समझ कर उसे वर्ज्य ठहराया गया। देवों में परिगणित किये जाने पर भी कामदेव, वर्जित देव ही समझे गये। काम की महती सर्जनशीलता और अदम्य प्रेरक शक्ति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का श्रेय फ्रायड आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों को है। फ्रायड ने काम-भावना को मूल शक्ति माना। मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे इस शक्ति की प्रेरणा रहती है। भोग और संयोग की इच्छा स्वाभाविक है किन्तु वह तो पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है; काम का परिशोध ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। दया, ममता, त्याग आदि उदात्त वृत्तियाँ काम-भावना के परिशोध के ही परिणाम हैं। हिन्दी साहित्य में सम्भवतः प्रसाद ही सबसे पहले कवि हैं जिन्होंने 'कामायनी' के द्वारा काम का उदात्त और व्यापक रूप हिन्दी जनता के समक्ष रखा। मैं इसे प्रसाद की बड़ी भारी देन मानता हूँ कि सौन्दर्य, प्रेम और दर्शन के इस कवि ने काम का इस प्रकार वर्णन किया है जैसे यह विशुद्ध भारतीय विचार-धारा हो। श्रद्धा को काम और रति की पुत्री के रूप में देखना भी प्रसाद की नई अवतारणा है जो सामान्य पाठक को एक दम आश्चर्य में डाल देती है। कामायनी मनु से कहती है—

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

काम की पुत्री के पास कहाँ से आये ये मानवोचित गुण, यदि काम केवल उच्छृङ्खल वासना का ही दूसरा नाम हो किन्तु वस्तुतः प्रसाद ने मङ्गल से मण्डित श्रेय के रूप में ही काम का वर्णन किया है। कामायनी के मनु ने काम के परिमार्जित रूप का प्रयोग नहीं किया, इसीलिए काम को कहना पड़ा—

"पर तुमने तो पाया सदैव
उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य—जलधि से भर लाये,
केवल तुम अपना गरल पात्र॥

तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का
प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया।
हाँ, जलन-वासना को जीवन-
भ्रम तम में पहला स्थान दिया॥

कामायनी काम और रति की पुत्री क्यों है ? अब हम इस प्रश्न पर आसानी से विचार कर सकते हैं। काम भावना का उदात्त रूप दया, माया, ममता, भक्ति आदि गुणों की सृष्टि कर सकता है और श्रद्धा इन्ही गुणों की मूर्तिमन्त रूप है। केवल भोगेच्छा के सीमित अर्थ से आगे बढ़ कर यदि हम काम और रति के व्यापक अर्थ पर ध्यान दें तो काम और रति की सन्तान के रूप में कामायनी की कल्पना बड़ी उपयुक्त जान पड़ती है। प्रसाद ने काम को आकांक्षा तथा रति को तृप्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है—

"हम भूख-प्यास से जाग उठे,
आकांक्षा तृप्ति समन्वय में।
× × ×
मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको।"

मान लीजिए हमारे मन में सत्य की कामना का उदय होता है, गांधी जैसे महापुरुप में जब हम सत्य की पूर्ति देखते हैं तब हमारी आकांक्षा को तृप्ति का रूप मिलने के कारण गांधीजी के प्रति हमारे हृदय में श्रद्धा का जन्म होता है। इस प्रकार काम और रति से अथवा आकांक्षा और तृप्ति से श्रद्धा की उत्पत्ति होती है।

व्यापक अर्थ में काम आकांक्षा का ही पर्याय है। आकांक्षा में भोगेच्छा भी शामिल है किन्तु 'काम' उसी तक सीमित नही। काम यदि व्यापक है तो भोगेच्छा व्याप्य है। देव-शरीर में मनु ने खूब उपभोग किया था। श्रद्धा से साक्षात्कार होने पर पुराने संस्कारों के कारण उनमें 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा का उदय हो रहा है। काम के उद्रेक के समय मनु को ऐसा जान पड़ता है जैसे जीवनरूपी वन में वसन्त का आगमन हो गया हो। वसन्त के आने पर कोकिल मतवाली होकर कूकने लगती है, काम के आगमन पर मन उमङ्गों से भर जाता है, मन की वीणा राग अलापने लगती है, हृदय की कोकिल कूक उठती

है। कहीं कहीं तो प्रसाद ने बायरन की तरह सौन्दर्य के प्रभाव का बड़ा तीव्र तथा व्यक्तिगत अनुभूतिमय वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—

"जब लीला से तुम सीख रहे,
कोरक-कोने में लुक रहना।
तब शिथिल सुरभि से धरणी में,
बिछलिन न हुई थी ? सच कहना।"

कितने ऐसे हैं जो कामायनियों के कटाक्ष-पात से विचलित नहीं हो जाते, फिसल नहीं जाते ? अपनी अनुभूति के बल पर इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर जैसे प्रसाद सुनाना ही नहीं चाहते क्योंकि यथार्थ जीवन की सचाई तो इस प्रश्न के स्वीकारात्मक उत्तर में ही निहित है।

"है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
सज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बन्द किये
तन्द्रा को पास बुलाता है।
व्रीड़ा है यह चञ्चल कितनी
विभ्रम से घूँघट खींच रही,
छिपने पर स्वय मृदुल कर से
क्यों मेरी आँखें मीच रही !"

मनु कहते हैं मुझे ऐसा लगता है जैसे शीतल मन्द पवन के स्पर्श की तरह किसी ने मेरा स्पर्श कर लिया हो जिससे मेरी आत्म-चेतना जैसे जाती रही है। रोमाञ्च हो रहा है, आँखें बन्द हो रही हैं और झपकी-सी आ रही है। मुझे ऐसा लगता है जैसे किसी लज्जाशील नायिका ने विभ्रम से घूँघट निकाल लिया हो, जो स्वय छिपने की चेष्टा करती है किन्तु फिर भी पीछे से आकर मुझसे आँख-मिचौनी का खेल खेल रही है। प्रेम के इस प्रकार के शारीरिक अनुभावों पर लोगों ने आपत्ति भी की है। आदर्शवादियों के प्रभाव से यह परम्परा पड़ चुकी थी कि प्रेम का खुला रूप काव्य में न प्रदर्शित किया जाय। प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रण और प्रेम काव्य में हम अतृप्ति मूलक वासना पाते हैं। एक साथ ही इतना वासनामय और इतना दार्शनिक कवि हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं हुआ।

बाह्य सौन्दर्य ही सब कुछ है या 'सुन्दरता के इस परदे में क्या

अन्य धरा कोई धन है ।' यह प्रश्न रह रह कर मनु के हृदय में उत्पन्न होता है । अनन्त के प्रति अपनी आकुल आकांक्षा की भावना से प्रसाद ने कामायनी के मनु को भी आवेष्टित दिखलाया है । अनन्त के दिव्य उद्‌घाटन की कल्पना से मनु आह्लादित हो उठते हैं । उपनिषदों में कहा गया है कि स्वर्ण पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है । प्रसाद के अनन्त ने भी चाँदनी सदृश्य सुसज्जित आवरण अपने मुख पर डाल रखा है । क्या ही अच्छा हो यदि यह आवरण हट जाय जिससे उस दिव्य रूप का दर्शन हो सके । ऐसा दर्शन जिसमें परमात्मा शेषनाग की तरह कल्लोल करता हुआ और अनन्त की लहरियों में विचरण करता हुआ दिखलाई पड़े (अथवा आसमान की तरह जिसमें शब्द भरा हुआ है और जो शब्दों की लहरों में विचरण करता है । पीथागोरस के 'नक्षत्र-सङ्गीत' की ओर भी अव्यक्त संकेत हो सकता है जिसके अनुसार आसमान में विचरण करने वाले नक्षत्र गीत गाते हुए चलते हैं) शेषनाग के झागयुक्त फन की तरह (अथवा आसमान की आकाश गङ्गा की तरह) अपना वरद हस्त उठाये हुए हो और अनन्त शेषनाग की अनन्त मणियों की तरह अथवा आकाश के असख्य नक्षत्रों की तरह वरदान रूपी मणियों का जाल लुटा रहा हो, जो अपनी निद्रा से जाग उठा हो और उन्मत्त होकर कुछ गा रहा हो । कवि के ही शब्दों में—

'चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं,
  अवगुण्ठन आज सँवरता सा,
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा,
  लहरों में मस्त विचरता सा—
अपना फेनिल फन पटक रहा,
  मणियों का जाल लुटाता-सा,
उन्निद्र दिखाई देता हो,
  उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा ।"

ऊपर की पंक्तियों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है जैसे परमात्मा कोई सुन्दर स्त्री हो जिसने अपने मुख पर घूँघट डाल रखा है । कबीर ने आत्मा रूपी स्त्री के घूँघट का उल्लेख किया है ।* प्रसाद

* घूँघट के पट खोल री तोहि पिय मिलेंगे —कबीर

अनन्त के अवगुण्ठन का वर्णन कर रहे हैं।

मनु विकट परिस्थिति में पड़ जाते हैं। सोचते हैं कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ वह सब क्या माया उलझन है? लेकिन बाद में मनु का चेतन मन इस निश्चय पर पहुँच जाता है कि संयम का मार्ग छोड़ कर मैं सौन्दर्य का उपभोग करूँगा। हमारे अवचेतन मन में बहुत सी अतीत कालीन स्मृतियाँ इकट्ठी होती रहती हैं। मनु अपनी जाग्रत अवस्था में तो एक निश्चय पर पहुँच जाते हैं किन्तु रजनी के पिछले पहरों में उनको एक आदेशात्मक स्वप्न आता है जिसमें काम उच्छृङ्खलता के दुष्परिणाम और संयम की मङ्गलमयी सम्भावनाओं की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि जाग्रत अवस्था में जब किसी काम के लिए प्रेरणा नहीं मिलती तब हमें आदेशात्मक स्वप्न आया करते हैं। निम्नलिखित आदेशात्मक स्वप्न के साथ ही इस सर्ग की समाप्ति हुई है जिसमें नाटकीयता का अच्छा समावेश हो गया है—

'उसके पाने की इच्छा हो तो
"योग्य बनो" कहती कहती
वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली चुप हो रहती!'
मनु आँख खोल कर पूछ रहे—
"पथ कौन वहाँ पहुँचाता है?
उस ज्योतिमयी को देव! कहो
कैसे कोई नर पाता है?"
पर कौन वहाँ उत्तर देता
वह स्वप्न अनोखा भङ्ग हुआ।

'काम' सर्ग मनोविज्ञान, काव्य और दर्शन का सुन्दर समन्वय है—

परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
अपने आलस का त्याग किये।
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के,
अन्तर में उसकी चाह रही॥

आदि पद्यों मे सांख्य दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली विचार-धारा स्पष्ट है। सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण की साम्यावस्था मूल प्रकृति है। साम्यावस्था में प्रकृति का उन्मूलन या आविर्भाव नहीं

होता। वह प्रकृति के आलस्य की दशा है। वैषम्य में सृष्टि उत्पन्न होती है। कर्त्तव्य उत्साह है और अकर्तृत्व आलस्य। 'परमाणु बाल सब दौड़ पड़े' में कणाद के परमाणुवाद की स्पष्ट झलक है।

किसी ने कहा है कि पन्त के सौन्दर्य चित्रों में प्रकृति ही मनुष्य बन गई है. प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रों में मनुष्य ही प्रकृति बन गया है। प्रसाद का प्रकृति वर्णन मानव-सापेक्ष है। 'काम सर्ग' में वसन्त का सा वर्णन नहीं है, उस वसन्त का वर्णन है जिसका सम्बन्ध मनु के जीवन से है।

कामायनी ध्वनि प्रधान काव्य है। 'काम सर्ग' में ध्वनि है अनेक उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—

अपना कलकण्ठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कलकल में।

ध्वनि यह है कि झरनों से जो कल-कल शब्द हो रहा था वह काम की ही ध्वनि थी अर्थात् कल-कल करते हुए झरनों से काम-भावना जागृत होती थी 'है भीड़ लग रही दर्शन की' में श्लिष्ट दर्शन पद के आधार पर ध्वनित होता है कि दर्शनों का वाग्जाल उस दिव्य ज्योति के साक्षात्कार में बाधक होता है। नक्षत्रो! क्या तुम देखोगे इस ऊषा की लाली क्या है? इस पंक्ति में अप्रस्तुत प्रतीक विधान भी बहुत उपयुक्त हुआ है। हे दमसंयम का जीवन व्यतीत करने वालो, विलासिता के आनन्द का तुम्हे क्या पता? इस प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना के लिए ही उक्त पक्ति का प्रयोग हुआ है। सौन्दर्य और अनुराग के प्रतीक के रूप में ऊषा की लाली का चित्रण और अन्धकार में टिम-टिमाते हुए नक्षत्रों से सयमी लोगों की तुलना मनु की मनो-दशा देखते हुए बहुत ही उचित है। काली रात में टिम टिमाते हुए नक्षत्र 'ऊषा की लाली' को क्या समझेंगे बिचारे।

कहीं-कहीं बहुत ही फड़कती हुई पक्तियों का प्रयोग इस सर्ग में हुआ—'क्या तुम्हे देख कर आते यों मतवाली कोयल बोली थी?' अपने मोहक आकर्षण में पंक्ति कितनी बेजोड़ है। प्रसाद एक साथ ही दार्शनिक और कवि दोनों हैं और ऐसा दार्शनिक कवि ही चिरकाल तक जीवित रहता है अपने विचारों की सार्वदेशीयता आदि के कारण।

प्रसाद के नाटक



मूल चेतना—

शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबा कर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था। प्रसाद अपने मूल रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गये और उसको पचा कर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नील हो गया हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था, वे बड़े गहरे जीवन द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह जहर उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोडित हो उठी हो। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है—और यही उनके साहित्य की मूल-चेतना है।

ऐसा व्यक्ति यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्त्व नहीं देगा—प्राय वह उसको छोड़ कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा—एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमान्टिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण (जैसा रोमान्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है) वह पुरातन की ओर जायगा—या कल्पना लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमान्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

यह प्रसङ्ग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नही, परन्तु इसमें बोलती हुई देशभक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नही देखा। आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी चन्द्रगुप्त में अनेकों तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्त्व एक-राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

'मालव और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।'

'आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसादजी की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातावरण में पूरी तरह से फिट करदी गई हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असङ्गति मानते हैं, वे वास्तव में मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता मात्र प्रकट करते हैं।

सुख-दुख की भावना—

प्रसाद के नाटकों के मूल तत्त्व को समझने के लिए उसकी सुख-दुख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं, परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है? नही! नाटक के ऊपर दुख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिल्कुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त भावना प्राय. वैराग्य-पूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य दर्शन का सङ्घर्ष और समन्वय वास्तव में दु खवाद और आनन्द-मार्ग का ही सङ्घर्ष और समन्वय है जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाव वश उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुःखान्त, उनमें

सुख-दुःख जैसे एक दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते। कवि आग्रह-पूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है, परन्तु तुरन्त ही दुख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है।

सिल्यूकस—(कार्नेलिया की ओर देखता है। वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी ......आओ चन्द्रगुप्त! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि)

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो, अब हम लोग चलें।

इस प्रकार आप देखते हैं कि ये नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न हो कर प्रसादान्त हैं। इसका एक प्रमाण और है वह है रस का परिपाक। इन नाटकों में मुख्य रस दो हैं शृङ्गार और वीर (देश-भक्ति)। इन दोनों में भावना अत्यन्त गाढ़ी और तीव्र है—शृङ्गार में एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उच्च गन्ध और रूप यौवन के चटकीले चित्र जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता—देशाभिमान अथवा आत्म-गौरव की अभिव्यक्ति भी अन्तरतम की पुकार ही है। सिंहरण अथवा बन्धुवर्मा की देशभक्ति कर्तव्य-पूर्ति नहीं, आत्मा का आग्रह है। उनकी उक्तियाँ केवल नीति-मुखर ही नहीं हैं, उनमें हृदय का आक्रोश है।—परन्तु इन दोनों के साथ तीसरा रस शान्त भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनों पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो या परुष, उबल कर सीमा तोड़ना चाहता है, तभी शान्त रस के शीतल छींटे उसे शान्त और सयत कर देते हैं। स्वभावतः यहाँ रस का प्रवाह आवेग से परिशान्ति की ओर बहता हुआ मिलता है—और यही प्रसाद के नाटकों का 'प्रसादान्त' है।

चरित्र-प्रधान नाटक—

स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है। प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे महान् स्रष्टा थे। इन्होंने अपने नाटकों में अमर पात्रों की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतन्त्र एव प्राणवान् व्यक्तित्व

नाटकों का आधार—

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिये उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य—हर्ष) जिसमें उनकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी—ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था—

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है—

"ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिये और सेवा के लिये इतर वर्णों का संङ्गठन कर लेगा।"

दूसरी ओर भगवान बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है—

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुख-समुद्र में कूद पडो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे। ......विश्व-मैत्री हो जायगी, विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा।"

इन्हीं दोनों धूपछाँही डोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम स्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रङ्गीन अतीत इन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा। इसीलिए उनके नाटक में पुनरोत्थान की प्रवृत्ति बडी सजग रहती है। कामना का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारी वर्तमान ही नहीं भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सत्य स्वरूप प्रदर्शित करने के लिये, इन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्व-ज्ञान का आधार,

प्राचीन शिलालेख, पाणिनि व्याकरण, पतञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर, राजतरङ्गिणी, पुराण, प्राचीन-काव्य ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ रोमाण्टिक मोह ही नही था—चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोज अपना स्वतन्त्र महत्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को छोड़ कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमे प्राण-सञ्चार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य एवं गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामन्तीय संस्कृति इन तीनों को लाँघ कर आर्य सस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनरोत्थान इतने सहज ढङ्ग से होता है कि दो हजार वर्ष का महान अन्तराय एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य विधान ही नही, उनके पात्रों के नाम, वेशभूषा, चरित्र और वात-चीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि युग जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसादजी पर बिल्कुल नहीं है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसादजी गहरे जीवन द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठ कर प्रसादजी की देशभक्ति अमर स्वरों में फूट उठती है—

मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला! इस नृशस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है! प्रतिशोध?

सिंहरण—ठहरो, मालव वीरो! ठहरो, यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।

उनके गीतों को ही लीजिये—यह सत्य है कि यह सभी गीत नाटकीय नहीं हैं, कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये हैं, परन्तु उनके जो भीतर वेदना की गहरी टीस, रूप यौवन का चटकीला रङ्ग, एवं विलास की उष्ण-गंध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति सञ्चरण करती रहती है। यही बात वस्तु-विधान और चरित्राङ्कन में है। प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं—अँधेरी रात में मागन्धी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की विदा, मालविका का बलिदान, सभी कुछ एक मूक कविता है। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का प्रभूत सञ्चार हो रहा है—इनमें से कतिपय तो एकान्त कवितामय हैं, इनका अस्तित्व ही नाटक में कविता की साँस फूँकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिल कर अपना सौरभ छोड जाते हैं—इनके अतिरिक्त प्रायः और सभी पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म कठोर व्यक्तित्व में बाल्यकाल की स्मृतियाँ भाँवरियाँ ले रही हैं। उनके संवाद और भाषा का रसीलापन तो दोष की सीमा तक पहुँच गया है। ये नाटक गद्य गीतों का अक्षय भण्डार हैं।

१—"अकस्मात् जीवन कानन में, एक राका-जननी की छाया में छिप कर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कह कर सबको रोकने टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर उस कम्पन में स्वर मिलाकर कामदेव गाता है। और राजकुमारी! वही काम सङ्गीत की तान सौन्दर्य की रङ्गीन लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिये—वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धान्त का नहीं काव्य का आग्रह है देखिए स्कन्दगुप्त का अन्तिम दृश्य।

स्कन्दगुप्त—देवी यह न कहो! जीवन के शेष दिन कर्म के

अव्यक्त रह सकते थे।

प्रसाद के काव्य में विराट और कोमल का अपूर्व संयोग है—जिस लेखक ने कामायनी के विराट रूपक की सृष्टि की है, उसी ने अनेक मधुस्निग्ध गीतियों की उद्भावना भी की है। अतएव आपको उनके नाटकों में इन दोनों तत्त्वों का अपूर्व योग मिलेगा। उनके दो प्रकार के चित्र साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं—१ सम्पूर्ण चित्र, २ रेखा चित्र। पहले चित्र कवि की विराट भावना की प्रसूति हैं, उनका सम्पूर्ण चरित्र-विकास शक्ति के आधार पर होता है, स्वभावत' यह चित्र समस्त नाटक की दीवार को घेरे हुए रहता है—चाणक्य और स्कन्दगुप्त ऐसे ही दो चित्र हैं। अजातशत्रु की मल्लिका में विस्तार तो नही परन्तु शक्ति असीम है। इनमें महान् कोमल का एक स्पर्श भर पाकर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसाद की सूक्ष्म-कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएँ अथवा विभिन्न रङ्ग नही—इनमें एक रेखा है और एक धुँधला रेशमी रङ्ग है—एक ही स्वर है 'सङ्गीत सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान धूपदान की एक क्षीण गंध धूमरेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ इन सबों की प्रतिकृति' हैं ये नारी चरित्र। देवसेना, मालविका और कोमा—ये तीन चित्र प्रसाद के नाटकों में उनकी ट्रेजेडी की सार-प्रतिमाएं हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यंग्य है।

मधु-वेष्टन—

प्रसाद के नाटक मधु से वेष्टित हैं—प्रसाद मूल रूप में कवि हैं अत उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा वह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक वहुत वड़ा अश इन नाटकों में विखरा मिलगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी मे कविता का रङ्गीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रङ्गीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के विखरे हुए प्रस्तर खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया, अतएव परिणाम स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रङ्ग से जगमगा रहा है। सवसे प्रथम

दोष यह है कि वस्तु विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थान पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़ कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का जबरदस्ती गला घोंट देना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।

इस प्रकार इन नाटकों का महत्त्व असम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं। प्रसाद की ट्रेजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरोत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट् मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओं के नाटकों की तुलना में भी उसकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती।



प्रसाद-कालीन नाट्य साहित्य-प्रवाह और प्रक्रियाएँ



कला को मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण कहा गया है। ललित कलाओं में लोकरञ्जनकारिणी शक्ति के अतिरिक्त सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण अनिवार्य है। साहित्य का ललित-कलाओं में सर्वोच्च स्थान है। साहित्य का ललित-कलात्व तथा लोक-हित सम्पादन उसके मनस्तत्व पर ही निर्भर है। इसीलिए साहित्य को मानवता का मस्तिष्क कहा गया है। साहित्य हित की भावना के साहित्य का द्योतक है। अथवा वह लोक हित सम्पादन की भावना का द्योतक है, मानववाणी का वह लोक कल्याणकारी चिरन्तन कोष है जो देश अथवा काल की सीमा में सीमित नही। यद्यपि साहित्य प्रतिभा की सृष्टि है और प्रतिभा में अनुकरण (Imitation) नहीं तथापि एक की एक प्रतिभा से निःसृत कलागत सौन्दर्य दूसरे प्रतिभावान कलाकार के लिए प्रेरक-शक्ति का रूप धारण कर सकता है। उदाहरणार्थ एक साहित्यकार के विचार हमारे मानव को प्रभावित कर सकते हैं और एक नवीन दिशा में प्रेरित करने में समर्थ हो सकते हैं। निष्कर्ष यह है कि काव्यगत सौन्दर्य प्रेरक हो सकता है। वास्तव में यही तो उसकी उपादेयता है। यह प्रेरणा शक्ति नवीन दिशा में चिन्तन अथवा साहित्य-सृजन का कारण हो सकती है। एक अन्य दिशा में भी प्रेरणा का ग्रहण हो सकता है। अभी मैंने कला के एक ही पक्ष का निर्देश किया है। कला की पूर्णता (Perfection of art) के लिए उसका वाह्य तत्त्व सुषमा (Symmetry) भी अनिवार्य है। कला के वाह्य रूप अथवा शरीर पर भी कलागत सौन्दर्य अपना प्रभाव डाल सकता है, अपनी अमिट छाप छोड़ सकता है। दोनों ही दिशाओं में यह प्रभाव साहित्य के स्वतन्त्र और स्वस्थ-विकास का

कारण हो सकता है। प्रथम दिशा में केवल अनुकरण से अथवा प्रतिभा व योग्यता के दोष से तथा दूसरी दिशा में साधना के अभाव से अथवा केवल वाह्य अनुकरण से साहित्य सृजन में तथा साहित्य के स्वस्थ-विकास में वाधा हो सकती है।

पूर्वकृत विवेचन में मैंने कला-सम्बन्धी आदान-प्रदान का रूप वतलाया है। अब हम उसके प्रकट रूप का साहित्य के उदाहरणों से प्रत्यक्षीकरण करेंगे। दो क्षेत्रों में प्रत्यक्ष उदाहरण प्राप्त होते हैं, प्रथम एक भाषा अथवा एक जातीय साहित्य पर दूसरी भाषा या दूसरे साहित्य अथवा विदेशी साहित्य का प्रभाव, तथा द्वितीय एक ही भाषा के साहित्य मे या एक ही जातीय साहित्य में एक व्यक्ति का या उसके व्यक्तित्व का काल विशेष पर प्रभाव। प्रथम क्षेत्र में प्रभाव की क्रिया दोनों ओर या एक ही ओर हो सकती है, द्वितीय मे यह क्रिया उभयमुखी होती है। दोनों प्रभावों के प्रतिफलन से कला का स्वतन्त्र विकास सम्भव है। प्रथम क्षेत्र में सब साहित्य एक दूसरे के ऋणी हो सकते हैं किन्तु यह आवश्यक नही कि परस्पर दो भाषा के साहित्यों में आदान प्रदान की दुहरी क्रिया पाई जाय। द्वितीय क्षेत्र में प्रतिभाशाली और प्रभावान्वित के सम्बन्ध में यही वात कही जा सकती है पर प्रतिभावान साहित्याकार का उनके काल या युग-विशेष से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। साहित्य में युग-प्रवर्तन तथा सम्प्रदाय (School) का जन्म इसी दुहरी प्रक्रिया (Double process) से होता है।

अब हिन्दी साहित्य के प्रत्यक्ष उदाहरणों का निरीक्षण करें। आधुनिक-काल के नवीन विकास में मूल चेतना सम्पूर्ण जीवन की सर्वाङ्गीण आलोचना है, जो हमें पाश्चात्य साहित्य से प्राप्त हुई है। विशेषकर आग्ल साहित्य का हिन्दी के जातीय-साहित्य पर जो प्रभाव पडा है वह दोनों रूपों में परिलक्षित होता है, साहित्य की आत्मा भाव में तथा वाह्य रूप कला में। साहित्य की सभी श्रेणियों में यह उभयमुख प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। रीतिकालीन युग का साहित्य तत्कालीन संकुचित दृष्टि का परिचायक है। आधुनिक युग में खडी बोली का प्रयोग, तथा गद्य का नव-विकास उसी मूल चेतना का परिणाम है। गद्य और पद्य की भाषा में एकता तथा गद्य का अत्यधिक

प्रयोग एक ही मूल चेतना के दो बाह्य रूप हैं। फल-स्वरूप गद्य और पद्य दोनों ही में जब साहित्य-सर्जना हुई वह गत एक सहस्र वर्षों के इतिहास में अभूतपूर्व है। दृष्टि-विस्तार से हिन्दी के आधुनिक काल की युगल विशेषताएँ (गद्य और पद्य की भाषा का एकीकरण और गद्य का अधिकाधिक प्रयोग) युग तथा साहित्य की अनिवार्य विशेषताएँ हो गईं। बुद्धि तथा विज्ञान के इस युग में इन विशेषताओं की उपादेयता कौन नही जानता ? जीवन के सम्बन्ध में दृष्टि विस्तार तथा तदनुरूप परिवर्तित साहित्यिक दृष्टिकोण ही साहित्य की विभिन्न श्रेणियों के सर्वतोमुख विकास का उत्पादक कारण (Productive Cause) है। उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट है। रीति-कालीन युग मे दृष्टि श्रृङ्गार की ओर थी और नारी कविता-केन्द्र थी। तथापि नारी का सम्पूर्ण चित्रण उस काल के साहित्य में दुर्लभ है। नारी-चरित्र की दुर्बोधता, उनके जीवन के विभिन्न पार्श्वों तथा शक्ति की विशद और गम्भीर आलोचना तत्कालीन साहित्य में प्राप्त न होगी। उसके श्रृङ्गार का विवेचन तथा प्रेमी जीवन के चित्र अवश्य सुलभ होंगे। नवीन-युग के आगमन ने साहित्य तथा जीवन के नवीन मूल्यों की सूचना दी। फल-स्वरूप साहित्य के आदर्श बदले। नाटकों का तो इसी युग में कायाकल्प हुआ और भारतेन्दु काल से ही उनका सूत्रपात आरम्भ हुआ। उपन्यास और आख्यायिका का भी, अर्थात् समस्त कथा-साहित्य का विकास पाश्चात्य आदर्श के अनुकरण पर हुआ। मेरा आशय यह नही कि उपन्यास और आख्यायिका भारतीय साहित्य में अप्राप्य या नवीन वस्तुएँ थी। उनका बाह्य रूप अवश्य पश्चिम से ग्रहण किया गया है। यही बात एकाङ्की नाटकों के सम्बन्ध में है। भाषा, प्रहसन, वीथी और अङ्क (उत्सृष्टिकांक) एकाङ्की के ही उदाहरण हैं। तथापि आधुनिक एकाङ्की का बाह्य ढाँचा तथा उसके आदर्श पश्चिमीय ही हैं। कविता के सम्बन्ध में पाश्चात्य प्रभाव तथा साथ ही अनुकरण से आया हुआ दोष भी स्पष्ट वर्तमान है। आधुनिक युग गीति-काव्य का युग है यद्यपि उसमे श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्यों की रचनाएँ भी हुई हैं। हिन्दी के प्रगीत मुक्तकों में बाह्य रूप अनुकरण पर आधारित है, किन्तु बाह्यरूप में पूर्णता प्राप्त कर लेने से कला की पूर्णता नहीं होती। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने गीति शैली का भी पर्याप्त प्रयोग किया है, किन्तु उनकी सारी प्रतिष्ठा प्रबन्ध कवि के रूप में ही है।

जयशङ्कर 'प्रसाद' हिन्दी कविता में छायावाद के प्रवर्तक हुए जिनके गीतों में उपयुक्त भावाभिव्यञ्जना है, शब्द शक्ति का विकास भी है परन्तु गीतोपयोगी माधुर्य और प्रसाद-गुण का अपेक्षाकृत अभाव पाया जाता है। इस दृष्टि से सुमित्रानन्दन पन्त का प्रयत्न अभिनन्दन के योग्य है। महादेवी और निराला में भाव-प्रवणता है किन्तु पन्त का सा माधुर्य नहीं। हिन्दी प्रगीत मुक्तकों में स्वतन्त्र भावनाओं की सुन्दर व्यञ्जना तो पाई जाती है पर ऐसे गीतों की संख्या अल्प ही है जिनमें भावना तीव्रता की सीमा को पहुँचाई गई हो। यही विशेषता गीति काव्य की अनिवार्य विशेषता है जो न तो अनुकरण से सम्भव है न कला के वाह्य उपकरण की पूर्ति से। वह तो प्रतिभा तथा साधना से ही सम्भव है।

आंग्ल साहित्य के प्रभाव का दिग्दर्शन करते हुए उदाहरण-स्वरूप मैंने गीति-काव्य का विवेचन किया है। अब इसी सम्बन्ध में हिन्दी नाट्य क्षेत्र पर एक दृष्टि डाली जाय। हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास अर्वाचीन है, वह आधुनिक विकास की ही कहानी है। नाट्य साहित्य के अध्ययन के अनन्तर इस निष्कर्ष मे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि आधुनिक हिन्दी नाटकों के विकास की इतिहास-सामग्री नाट्य क्षेत्र में विभिन्न प्रयोगों का विवेचन ही है। यह बात बिना किसी सङ्कोच के हिन्दी के पूरे नाट्य-साहित्य के विषय में कही जा सकती है। फिर बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास अथवा वर्तमान-कालीन इतिहास तो ऐतिहासिक नाटक, दुःखान्त नाटक, सामाजिक नाटक, समस्या नाटक, प्रहसन, प्रभृति विभिन्न दिशाओं में विविध प्रयोगों का ही इतिहास है। शैली से सम्बद्ध विभिन्न प्रयोगों में सब से व्यापक और प्रभावशाली प्रयोग 'प्रसाद' का है और उनकी शैली का विकास पूर्णता को पहुँच चुका है। शेष प्रयास अभी विकास की अवस्था में है। 'प्रसाद' जी युग-प्रवर्तक नाटककार हैं। उनके प्रयोग की पूर्णता उनकी प्रतिभा, अध्ययन और साधना पर निर्भर है। उनमें कई विशेषताएँ हैं जो अन्य नाटककारों में दुर्लभ हैं—कवित्व, दार्शनिकता और प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ज्ञान। उनका नाट्य-शैली सम्बन्धी प्रयोग समन्वय-मार्ग का है जिसमें उन्होंने मार्ग-प्रदर्शन भी किया है। अन्य प्रयोग इतने सशक्त नहीं। उदाहरणार्थ

हिन्दी प्रहसन कोरे अनुकरण पर अवलम्बित हैं, उनमें कला की पूर्णता दृष्टिगोचर नहीं होती। दुखान्त नाटकों के क्षेत्र में राय महोदय का प्रयोग भी बहुत अंशों में सफलता के साथ किया गया है पर यहाँ भी कवित्व शक्ति की अपेक्षाकृत कमी है। राय की शैली का आदर्श 'नूरजहाँ' में है जिसमें हृदय के आन्तरिक द्वन्द्व पर हो नाटक का सारा आकर्षण और सौन्दर्य आधारित है। 'प्रसाद' की भावुकता की सीमा उक्त नाटक में पाई जाती है। भावुकता के इस आतिशय्य के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई उसका प्रयोग भी अनुकरण पर आधारित है। पश्चिम के समस्या नाटक के अनुकरण पर जो प्रयोग आरम्भ हुआ उनमें उक्त विशेषता कुछ अंशों में रह ही गई है। अतएव भावुकता हिन्दी नाटकों की अनिवार्य विशेषता हो गई है। अस्तु, स्वाधीनता (प्रतिक्रियाजन्य) इस प्रकार के नाटकों की शैलीगत नवीनता (Novelty in technique) है। 'प्रसाद' के प्रयोग से इस प्रयोग की तुलना करें तो इस नवीन प्रयोग में स्थिरता की कमी परिलक्षित होगी। न आदर्श की वह पूर्णता दृष्टिगोचर होती है और न शैली की वह पूर्णता जो स्थिर रूप को प्राप्त हो, नाट्य-क्षेत्र में मार्ग प्रदर्शन का कार्य करती है। संक्षेप में निष्कर्ष यह कि इस श्रेणी के नाटकों में आदर्श तथा शैली दोनों की वह पूर्णता परिलक्षित नहीं होती जो 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य में होती है।

आगे के विवेचन को हम दो भागों में विभक्त करेंगे, प्रथम हिन्दी नाट्य-साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ तथा द्वितीय हिन्दी-नाट्य-साहित्य के युग-प्रवर्तक तथा हिन्दी-नाट्य-क्षेत्र में उनकी साहित्यिक सेवा। आरम्भ में तो भारतीय नाट्य-साहित्य का ही उल्लेख किया जा सकता है जिसकी विख्याति प्राचीन काल में उच्चतम अवस्था (Zenith) को पहुँच चुकी थी। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र जैसे उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ के अस्तित्व से ही ईसा के पूर्व संस्कृत के नाटकों के विकास का पता चलता है। धर्म-भावना से ये नाटक विकसित हुए तथा गीत और नृत्य का सदा सहयोग रहा। हिन्दी का सारा नाट्य-साहित्य इन्हीं विशेषताओं के विकास का जीता जागता उदाहरण है। भारतेन्दु के पूर्व जो काव्यात्मक नाटक उपलब्ध होते हैं वे संस्कृत के उत्तरकालीन नाटकों के अनुकरण पर रचे गये हैं। विषय धर्म तथा भक्ति भावना है और चरित्र भी पूर्व परिचित राम और कृष्ण ही हैं। भारतेन्दु की

नाट्य-कला का आदर्श प्राचीन ही रहा अतएव प्राचीन भारतीय— नाट्य-कला का प्रतिनिधित्व उनके नाट्य-साहित्य में पाया जाता है। पाश्चात्य प्रभाव के आगमन के पूर्व तक यह आदर्श पूर्व-प्रतिष्ठित ही रहा। तृतीय उत्थान के पूर्व विदेशी प्रभाव का आगमन आरम्भ हुआ जो प्रस्तावना के क्रमशः लोप तथा नवीन शैली के क्रमशः ग्रहण में व्यक्त हुआ और इस प्रकार भारतीय शैली के एकाधिपत्य का क्रमिक अवसान हुआ।

'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य में शैली और नाटकीय आदर्शों का जो समन्वय पाया जाता है उसके मूल तन्तु इसी, भारतीय नाट्य-साहित्य में पाये जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय शैली की अनेक विशेषताओं को बचाये रखने के द्वारा ही 'प्रसाद' का समन्वय मार्ग स्थिर हुआ है। ऐसी विशेषताओं के चिह्न उनकी नाट्य शैली में अवश्य वर्तमान हैं। किन्तु भग्नावशेष के रूप में नहीं; नव-विकास के रूप में तथा समन्वय का आदर्श साथ लिये हुए। एक महान् विशेषता भारतीय रस-विधान तथा पाश्चात्य शील वैचित्र्य के समन्वय की है। दूसरी महान् विशेषता नाटकों के पर्य्यवसान के सम्बन्ध के आदर्श में है। सुख और आनन्द में पर्य्यवसान के लक्ष्य का परिवर्तित रूप शान्तिमय वैराग्य की भावना में पर्य्यवसान भारतीय रुचि और आदर्श का द्योतक है। इनसे भी महत्त्व की अन्य बात है 'प्रसाद' की भारतीयता तथा उनका भारतीय संस्कृति-प्रेम इनका अन्य विशेषताओं में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। अपने ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय जीवन के आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा करके तथा भारत के उन्नत काल के वीरोचित और उच्च आदर्श उपस्थित करके उन्होंने अपनी राष्ट्रीयता, भारतीयता तथा संस्कृति का परिचय दिया। यही 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य का लोकोपकार है। नाट्य कला के बाहरी विषय अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व नहीं रखते और काल के साथ परिवर्तित होते जाते हैं। यही कारण है कि साहित्यालोचन मे नियमों की अपेक्षा सिद्धान्तों का अधिक मान रहता है। अतएव भारतीय शैली के नियमों के पालन की आशा करना तथा नाट्य कला की भारतीय विशेषताओं का अन्वेषण नाट्य-कला के ज्ञानोपार्जन में ही लाभदायक होगा, नाटककार को समझने में, उसकी वैयक्तिक और साहित्यिक विशिष्टता, उसके जीवन-मूल्यों तथा सामाजिक और सांस्कृतिक

आदर्शों के अन्वेषण में उससे अधिक लाभ न होगा। 'प्रसाद' जी ने नाट्य शैली के समन्वय में पाश्चात्य आदर्शों को अधिकता से अपनाया है, यह एक बड़ी मनोरञ्जक और महत्त्वपूर्ण बात है। उनके नाटकों में आदर्श भारतीय नाटकों जैसा ही है। उसकी अतिरञ्जना न कर उन्होंने अपनी समन्वय भावना का परिचय दिया है। अतः उनके नाटकों में भारतीय-वस्तु-विकास के सिद्धान्तों को घटाने से अथवा उनका आरोप करने से अधिक लाभ नहीं और न इससे शैली सम्बन्धी किसी नवीनता का ही उद्घाटन सम्भव है। हम किसी भी अँगरेजी नाटक में भारतीय नाट्य-शास्त्र में निर्दिष्ट सन्धियों और कार्य अवस्थाओं की खोज कर सकते हैं। यदि ऐसा पूर्ण रूप से सम्भव न होता तो जिस प्रकार कविता का अर्थ खीच-तान कर अपने अनुकूल कर लिया जाता है अथवा जिस प्रकार दार्शनिक अपने विचार या तर्क को उपस्थित करने के लिये सिद्धान्त विशेष से अपने मतलब का अर्थ निकाला करते हैं उसी प्रकार हम भी नाटक की कथा-वस्तु में तथा उसकी शरीर रचना में इन विशेषताओं का आरोप कर सकते हैं। मेरे मन में 'प्रसाद' की भारतीयता उनके मूल और प्रधान आदर्श उनके समन्वयवाद में ही व्यक्त हैं। अन्य प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने की क्षमता भारतीयता की एक मौलिक विशेषता है। भारतीय धर्म में वर्णन, कवित्व, नीति आदि का समन्वय है, 'प्रसाद' के समन्वय में भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण है, भारतीय आदर्श वर्तमान हैं, भारतीय दृष्टि सुरक्षित है, भारतीय जीवन-मूल्य स्थिर है, कला में परिवर्तन हो गया है, पाश्चात्य सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन कर समयानुकूल शैली में परिवर्तन कर दिया गया है और सभ्यता और संस्कृति पर आधारित भारतीय रुचि का ध्यान रख नाट्य शैली में परिवर्तन कर दोनों शैलियों का समन्वय किया गया है, किन्तु जैसा मैंने निवेदन किया समन्वय से पूर्वात्य (Oriental) तथा आँग्ल (Anglican) साहित्यिक आदर्शों के सन्तुलन (Equilibrium) का अर्थ अभीष्ट नही। अतएव समन्वय का कथन एक व्यापक कथन है जिसका विस्तार नाट्य-कला के समस्त आदर्शों तथा नाट्य-कला के समस्त नियमों तक है। यद्यपि वह एक साधारण कथन (Generalisation) नहीं जो नाट्य-कला के सम्बन्ध में दोनों शैलियों के सन्तुलन के अर्थ का द्योतक हो। अतः समन्वय से सन्तुलन

का अर्थ न समझा जाय क्योंकि न तो वह लक्ष्य है और न उसकी प्राप्ति का प्रयत्न ही किया गया है।

अस्तु, प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य का समुन्नत भंडार सुरक्षित रहने पर भी देशगत प्रेरक शक्ति के कार्य करने पर भी, रङ्गमञ्च के अभाव के कारण हिन्दी-नाट्य-साहित्य की उन्नति अवरुद्ध रही है। पारसी रङ्गमञ्च के द्वारा उर्दू के कुरुचिपूर्ण नाटक अपनाये जाते थे। हिन्दी-प्रेमियों द्वारा स्थापित नाटक मण्डलियों को स्थायी प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ। पं० राधेश्याम 'कविरत्न', नारायणप्रसाद 'बेताब' और बाबू हरिकृष्ण जौहर के नाटकों द्वारा पारसी रङ्गमञ्च पर हिन्दी नाटकों को स्थान मिला। 'कविरत्न' तथा 'बेताब' के नाटक पारसी रङ्गमञ्च के उपयुक्त ही पौराणिक नाटक थे। जौहर ने सामाजिक नाटकों की रचना की। रङ्गमञ्च तथा नाटक दोनों ही एक दूसरे के विकास के लिए बाधक सिद्ध हुए हैं। अच्छे नाटकों की परिमित संख्या के कारण हिन्दी नाटकों का अभिनय असम्भव था और रङ्गमञ्च की अविकसित अवस्था नाट्य साहित्य के निर्माण में बाधक सिद्ध हुई है।

पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन तीन सरणियों में दिया जा सकता है शेक्सपियर का नाट्य-साहित्य, मौलियर का साहित्य तथा शॉ और इब्सन के नाटक। अँग्रेजी के नाट्य-साहित्य विशेषकर शेक्सपियर के नाटकों का प्रभाव एक तो वङ्ग-साहित्य के माध्यम से तथा द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवाद से आया, दूसरे अँगरेजी नाटकों के अनुवाद से तथा तीसरे प्रत्यक्ष रूप से शेक्सपियर के अध्ययन से। यह प्रभाव प्रथम नाटकों के बाहरी ढांचे में हुआ तथा अनन्तर क्रमशः आदर्शों में। प्रस्तावना का लोप, अँगरेजी नाटकों के अनुकरण पर अङ्कविभाजन और दृश्य विधान अर्थोपक्षेपकों और भरत-वाक्य इत्यादि का लोप तथा नियत श्राव्य वस्तु का लोप (अथवा अपेक्षाकृत कम प्रयोग) आदि लक्षण पाश्चात्य प्रभाव के परिचायक हैं। वस्तु-तत्त्व अथवा अर्थ प्रकृतियाँ तो वर्तमान हैं किन्तु कार्य व्यापार की अवस्थाओं का तथा सन्धियों का आदर्श अवश्य परिवर्तित हुआ। यद्यपि इनका अन्वेषण हम वर्तमान पाश्चात्य ढङ्ग के नाटकों में कर सकते हैं, 'प्रसाद' नाटकों में इनकी खोज और इनका दिग्दर्शन

किया गया है, तथापि इनमें इस प्रकार के अन्वेषण की आवश्यकता ही नहीं। कारण स्पष्ट है और इसका विवेचन हम कर भी चुके हैं— आधुनिक नाटक, पश्चिमीय नाटकों में विरोध को अपना कर भी चलते हैं। नाटक के ढाँचे में विरोध को प्रधानता मिलने से कार्य व्यवस्थाएँ अँग्रेजी नाटकों के सदृश विभक्त होती हैं—आरम्भ, विकास, चरम-सीमा, विगनि और समाप्ति। नाटक रचना के सिद्धान्तों में वस्तु-विकास तथा विरोध विकास का जो प्रधान भेद है वह केवल दृष्टि-कोण का है। एक में विरोध को प्रधानता दी जाती है, दूसरे में लक्ष्य प्राप्ति की। अतः एक का क्षेत्र सीमित हो जाता है, दूसरे का अत्यन्त विस्तृत। भारतियों ने जहाँ आदर्शों की प्रतिष्ठा को महत्त्व देकर नाटकों को अर्थ, धर्म और काम की वृद्धि अथवा लोकोपकार की वृद्धि के लिए माना है वहाँ पाश्चात्य लक्ष्य यथार्थ-प्रदर्शन का रहा है। पश्चिम के लोग यह देखना चाहते हैं कि वास्तव में समाज का जोवन कैसा है। इसी से सम्बद्ध प्रश्न नाटकों के पर्यवसान का है। भारतीय नाटकों का लक्ष्य जहाँ आनन्द में समाप्ति का है वहाँ पाश्चात्य आदर्श सुखांत और दुखांत का है। प्राचीन भारतीय नाटकों में आनन्द-वाद से लक्ष्य ने दुखान्त नाटकों की रचना न होने दी। आदर्शों में भेद है पर समन्वय सम्भव है और किया भी गया है। साहित्यालोचन के अनुसार वस्तु, चरित्र, कथोपकथन, देश, काल, शैली और उद्देश्य— ये छ: नाटकीय तत्त्व वतलाये गये हैं जो भारतीय आलोचना में निर्दिष्ट तीन तत्त्वों—वस्तु, नायक और रस के विकसित रूप हैं। पाश्चात्य शील वैचित्र्य के आदर्श तथा भारतीय रस-सृष्टि के आदर्श में भी समन्वय सम्भव है। अँग्रेजी तथा भारतीय साहित्यालोचन में सङ्कलन त्रय (three unities) में से वस्तु सङ्कलन को ही महत्त्व दिया गया है, शेष दो अन्वितियों का मनमाना उल्लङ्घन किया गया है क्योंकि उनके पालन में नाटकीयता नही। भारतीय नाट्य-शास्त्र में 'नायक' और 'नायिका' शब्द सोद्देश्य और व्यञ्जक (Significant) हैं। जो कार्यश्रृङ्खला को आगे बढ़ाकर अन्त तक ले जावे वह नायक है, यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। नायक के जो भेद भारतीय नाट्यशास्त्र में बताये गये हैं और जो विशेषताएँ आवश्यक बताई गई हैं आज उनका मूल्य नहीं। नायिका नायक की प्रिया हो यह भी आवश्यक प्रधान भाग से ही नायक और नायिका का निश्चय होता है।

नायिका-भेद को आज नाटकों में महत्त्व नहीं दिया जाता और न उसकी विवेचना की ही आवश्यकता समझी जाती है। नाटकीय वृत्तियों का आज भी मान होना चाहिये। ये वृत्तियाँ नायक, नायिका आदि के विशेप ढङ्ग अथवा व्यवहार पर आधारित होती हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार वृत्तियाँ नाटकीय रस की अनुभूति में सहायक होती हैं। नाटकों का अनिवार्य गुण अभिनय ही है और अभिनय तथा दृश्यों के प्रदर्शन से सम्बद्ध वृत्तियों का मूल्य सहज समझा जा सकता है। ये वृत्तियाँ आज भी पूर्ववत् आवश्यक हैं। इनके प्रयोग से प्राचीन नाट्य-साहित्य से हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है। अतएव आधुनिक काल में नाटकों को पश्चिम से उत्तेजना (impetus) मिली हो पर इसीलिए वे न तो नवीन वस्तु हैं न पाश्चात्य दैन। कैशिकी वृत्ति में गीत, नृत्य, विलास और रति आते हैं। यह मधुर वृत्ति है। अन्य वृत्तियाँ भारती, सात्वकी और आरभटी है जो भारतीयता की परिचायक हैं।

अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार आदि नामों का प्रयोग न किया जाय। साधारण दृश्यों के प्रयोग से अभीप्सित काय निकाल लिया जाता है। इनके द्वारा ऐसी बातों की सूचना दी जाती है जिनके रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित करने में बखेड़े हों। उदाहरणार्थ रथ या रेलगाड़ी दौड़ाना, जिनका प्रदर्शन शिष्टाचार के विरुद्ध हो जैसे सन्तानोत्पत्ति, स्नान आदि का प्रदर्शन अथवा जो इतनी महत्त्वपूर्ण या रस-पूर्ण न हों कि प्रदर्शित की जायँ। संक्षेप में सूच्य वस्तुएँ छोटे दृश्यों के अन्तर्गत बताई जाती हैं। प्रासङ्गिक कथावस्तु का प्रयोग होता है। 'प्रतीकास्थानक' का चमत्कार बहुत ही नाटकीय है किन्तु अब इसका प्रयोग बहुत ही कम दिखाई पड़ता है।

अस्तु, पश्चिमीय प्रभाव से नाट्यकला के आदर्शों मे कई परिवर्तन उपस्थित हुए। शेक्सपियर के नाटकों के प्रभाव से हिन्दी नाटकों में भावुकता का विकास हुआ, अन्तर्विरोध को प्राधान्य मिला और करुणा-पूर्ण नाटकों की सृष्टि हुई। जिस प्रकार साहित्य की श्रेणियों में उसी प्रकार नाट्य-साहित्य में बँगला व अँगरेजी की तथा कला के आदर्शों का अनुकरण हुआ। शेक्सपियर के

सम्पूर्ण आदर्शों को अपनाकर नाट्य-साहित्य का प्रणयन करने वालों में श्रेष्ठ कलाकार द्विजेन्द्रलाल राय हुए जिनके नाटकों का अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया गया। ऊपर उल्लिखित विशेषताएँ सर्वांश में इनक नाटकों में उपलब्ध होती हैं, हाँ, शेक्सपियर की सी कविता-शक्ति यहाँ अवश्य दुर्लभ है। सबसे अधिक प्राधान्य अन्तर्विरोध, भावोन्माद तथा कारुण्य को दिया गया है। 'सीता' नाट्य-काव्य है। 'ताराबाई' नाट्य-काव्य शेक्सपियर के ही अनुकरण पर अतुकान्त पद्य में है। चारित्रिक दुर्बोधता के साथ करुणा का सम्मिश्रण भी शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों की विशेषता है। नूरजहाँ और हैमलेट के चरित्रों के अनुशीलन से द्विजेन्द्रलाल राय के आदर्श के विषय में कोई सन्देह नही रह जाता। मोलियर,के साहित्य का प्रभाव विशेष-कर जी० पी० श्रीवास्तव के अनुवादों में है। इस प्रकार की उच्च कोटि की स्वतन्त्र रचनाएँ प्राप्त नही होती।

ऊपर पूर्वात्य और आंग्ल प्रेरक शक्तियों का विवेचन कर मैंने इस बात का निर्देश किया है कि युग-प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्राचीनता के प्रतीक थे। इनकी नाट्य-कृतियों ने नाट्य साहित्य में प्राणों का सञ्चार किया। 'प्रसाद' ने समन्वय मार्ग का अवलम्बन कर नाट्य साहित्य में एक नवीन युग की सूचना दी। ये नाटककार द्वय हिन्दी साहित्य में श्रेष्ठ कवि और नाटककार हुए। हिन्दी साहित्य पर इनके उपकार का विवेचन आगे किया जायगा। भारतीय तथा पाश्चात्य शैली के समन्वय को अपनाकर तथा भावुकता का आश्रय लेकर जो नाट्य-कला विकसित हुई उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप यथा-तथ्यवाद को लेकर तथा विपयगत नवीनता को अपनाकर शॉ और इब्सन के अनुकरण पर सामाजिक और राजनीतिक नाटकों की रचना हुई। समस्या-नाटक लिखने वालों मे सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशङ्कर भट्ट तथा गोविन्द वल्लभ पन्त हैं। मिश्रजी ने यौन-समस्या को प्रधानता दी है और सेठजी ने सामाजिक और राजनीतिक समस्या को। समस्या-नाटकों में विचार को प्रधानता दी जाती है, भावोन्माद का स्थान गौण रहता है पर ये सव नाटक भावुकता को साथ लेकर चले हैं। समस्याओं के बौद्धिक समाधान सभी नाटकों में प्राप्त होते हैं। मिश्रजी और सेठजी दोनों के नाटकों में विचारात्मकता का प्राधान्य है और कवित्व का नितान्त

अभाव है। सेठ गोविन्ददास के नाटकों में स्थान-स्थान पर शुष्कता अनिवार्यतः आ जाती है। लम्बे रङ्गसकेत (Stage directions) जहाँ वस्तु-कला मूर्तिकला, चित्रकला तथा नृत्य सम्बन्धी सूक्ष्म बातें व्यञ्जित करते हैं वहाँ बहुत से स्थलों पर अनावश्यक ही प्रतीत होते हैं। 'हर्ष' में तो राजनीतिक विषयों का वार्तालाप नीरस वाग्जाल ही है। इस नाटक में कार्य (Action) की कमी भयङ्कर दोष की सीमा को पहुँच गई है। नाटक यथार्थ में एक विस्तृत कथोपकथन ही है अभिनयात्मक तत्त्व जिसमें अल्प ही है। नाटकीय सरस स्थलों की अपेक्षा राजनैतिक चर्चा को प्राधान्य दिया गया है। नाटक की सफलता या असफलता बहुत कुछ पात्रों के चरित्र-चित्रण पर निर्भर रहती है। हमें विदित है कि चरित्र-चित्रण का प्रधान साधन कथोपकथन ही है। यह कथोपकथन जितना ही स्वाभाविक, उपयुक्त और अभिनयात्मक होगा नाटक उतना ही उत्तम कोटि का होगा। यद्यपि इस नाटक में शुष्क राजनीतिक वार्तालाप की कमी नहीं तथापि हम यह नहीं कहते कि सर्वत्र ऐसी ही बात है। उदाहरणार्थ दूसरे अङ्क के दूसरे दृश्य में राज्यश्री और अलका तथा विशेषकर हर्ष (शिलादित्य) और उनकी कनिष्ठा भगिनी राज्यश्री का वार्तालाप बहुत ही रोचक है। इसी प्रकार तीसरे अङ्क के दूसरे दृश्य की (आदित्यसेन, माधवगुप्त तथा शैलबाला) की बातचीत भी उपयुक्त और सुन्दर हैं। आदित्यसेन का हर्ष के प्रति स्वाभाविक क्रोध है। शैलबाला का पुत्र-प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक है। नाटक का अन्त भी अभिनयात्मक है। माधवगुप्त का अपने पुत्र को पकड़ कर प्राणदण्ड के लिए देना बहुत ही कारुणिक प्रसङ्ग है। पुत्र तथा माता (शैलबाला) का वार्तालाप आकर्षक है। करुणामय प्रसङ्ग को लेकर विद्रोहियों की अग्नि के साथ नाटक का अन्त होता है। माधवगुप्त के इन वचनों से—'इस अग्नि के साथ ही आर्यावर्त के साम्राज्य के प्रति विद्रोहियों की अग्नि भी सदा के लिए शान्त हो जायगी' नाटक की करुणा शान्ति में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार 'प्रसाद' के प्रयोग का व्यापक प्रभाव प्रतिक्रियाजन्य इन नाटकों में भी परिलक्षित होता है, न केवल भावुकता के क्षेत्र में पर नाटकीय अन्त के सम्बन्ध में भी।

हिन्दी नाट्य क्षेत्र में युग प्रवर्तक नाटककार-द्वय 'भारतेन्दु' और 'प्रसाद' का विवेचन प्रसङ्गवश हो चुका है। अब हिन्दी-नाट्य-साहित्य

पर इनके उपकार का अवलोकन करें। भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य में मौलिक नाटक रचना कर हिन्दी में नाटकों का सूत्रपात किया तथा साथ ही संस्कृत, बँगला तथा अँगरेजी के नाटकों के अनुवाद से युग को प्रेरित किया। उन्होंने परिमार्जित और व्यवस्थित गद्य का प्रयोग कर न केवल गद्य भाषा के भावी रूप और विकाश की सूचना दी, पर साहित्य को नवीन विषय भी दिये। उनके प्रयत्न के फलस्वरूप उनके जीवन-काल में उनके अन्य समसामयिकों ने उनसे प्रेरणा ग्रहण कर अनेक नाटकों का निर्माण किया। प० प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित बदरीनारायण चौधरी, लाला श्रीनिवासदास, बाबू तोताराम, पं० अम्बिकादत्त व्यास और बाबू राधाकृष्णदास आदि सब नाटककार हरिश्चन्द्र स्कूल के ही नाटककार हैं। रामकृष्ण वर्मा ने बँगला के नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किये। हरिश्चन्द्र-काल में उन्ही की प्रेरणा-स्वरूप नाट्य-कला का अपूर्व विकास हुआ। भारतेन्दु ने नाट्य-साहित्य में प्राचीन भारतीय नाट्य-कला का पूर्ण प्रभाव, कविता का चमत्कार, अलङ्कारमय भाषा का प्रसार, अभिनय-कला तथा नाटकीय वृत्तियों (उदाहरणार्थ 'चन्द्रावली' नाटिका में कैशिकी वृत्ति) का विकास दृष्टिगोचर होता है।

भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य में हमें मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, आन्तरिक सङ्घर्ष, भावोन्माद, कथोपकथनों की उपयुक्तता तथा नाटकीयता और चरित्रों की दुर्बोधता आदि सब गुण यथार्थ मात्रा में चाहे न प्राप्त हों, पर इससे नाट्य-साहित्य पर उनके उपकार में किसी प्रकार की कमी नही पड़ती। नाटक-रचना के उद्भव काल में हम विकास की महान् विशेषताओं के पाने की आशा नही करते। अङ्गरेजी के रोमैन्टिक ड्रामा तथा राय के नाटकों के प्रभाव-स्वरूप जो भावोन्माद हिन्दी नाट्य-साहित्य में आया और जिसका पूर्ण प्रभाव 'प्रसाद' के कथोपकथनों और गीतों में दिखाई पडता है वह इस काल में स्वाभाविकतया दुर्लभ ही है। तथापि भारतेन्दु के नाटक अभिनेय हैं और नाटकों के सूत्रपात्र और विकास की दृष्टि से, विषयों की नवीनता और अनेक रूपता की दृष्टि से, गद्य के प्रवर्तन और परिमार्जन की दृष्टि से, नाटक क्षेत्र में उनकी प्रतिभा और प्रेरणा की दृष्टि से, अनूदित तथा मौलिक नाटकों की महत्त्वपूर्ण देन की दृष्टि से, हिन्दी साहित्य पर भारतेन्दु का उपकार सदैव स्मरणीय रहेगा।

भारतेन्दु के पश्चात् नाटकों का धारा-प्रवाह अवरुद्ध हो गया। कारण स्पष्ट है—एक तो हरिश्चन्द्र जैसे युग प्रवर्तक कवि और नाटककार का लोकान्तरगमन, दूसरे नवीन मार्ग प्रदर्शक किसी दूसरे अत्यंत प्रतिभाशाली नाटककार का अभाव तथा साथ ही एक और शक्तिशाली कारण, रङ्गमञ्च का अभाव। इन कारणों से भारतेन्दु-काल में प्रवाहित धारा लुप्त हो चली! द्वितीय उत्थान अनुवादों का युग था जिसमें संस्कृत, अँगरेजी और बँगला के नाटकों के अनुवाद हुए। तृतीय उत्थान में जयशङ्कर 'प्रसाद' की सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा विशेषकर कवित्व और नाटकीय पर्य्यवेक्षण के सम्मुख उल्लिखित बाधाएँ न ठहर सकीं। और लुप्त प्राय धारा का प्रवाह समस्त वेग के साथ बह पड़ा। भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य का बहुत ही विकसित और समृद्धिशाली रूप 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य में दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु-काल के विवेचन में परिगणित अभावों का पूर्ण निराकरण 'प्रसाद' के नाटकों में हुआ। उनके नाटकों में भारतीय-इतिहास का जो पुनरुत्थान हुआ है, प्राचीन सस्कृति के जिन उज्ज्वल चित्रों की अवतारणा हुई है, इतिहास के साथ जिस कवित्व और दार्शनिकता का योग हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके नाटकों मे अन्तर्विरोध की प्रधानता अवश्य है। चरित्राङ्कन को प्रथम स्थान दिया गया है। शील वैचित्र्य दर्शाया गया है। कुछ चरित्रों (उदाहरणार्थ मागन्धी, सुरमा, विजया) की सृष्टि तो कौतुक प्रदर्शन के लिए ही की गई है परन्तु रस विधान का लक्ष्य विस्मृत नहीं हुआ। इस दृष्टि से 'प्रसाद' के नाटक साहित्य की चिरन्तन सामग्री है। आधुनिक नाट्य-साहित्य उनकी प्रतिभा तथा व्यक्तित्व से प्राणान्वित है। समस्या-नाटकों में जो भावुकता पाई जाती है वह 'प्रसाद' का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है। ऐतिहासिक नाटकों में तो उनका प्रवाह निर्विवाद है। उनके पश्चात् आज भी हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में वैसे प्रतिभाशाली नाटककार का स्थान-रिक्त ही है।

प्रसादजी के नाटक और पात्र-कल्पना

प्रसादजी ने द्विवेदी-युग के पूर्व आरम्भ काल में अपनी रचनाओं से हिन्दी का भंडार भरना आरम्भ किया। बेताव और राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की व्यवसायी रङ्गमञ्च पर धूम थी; द्विजेन्द्र के बङ्गाली नाटकों के हिन्दी अनुवादों की ओर पढ़ी-लिखी जनता आकृष्ट थी। रङ्गमञ्च के लिये लिखी गई रचनाएँ साहित्य की उन्नत मनीषिता से रहित थी, बङ्गाली नाटक हिन्दी की मौलिक मेधा से। भारतेन्दु के उदय, कॉंग्रेस की स्थापना, आर्यसमाज के उत्थान से जो भारतीय पुनर्जागरण आरम्भ हुआ था, प्रसादजी के समय में उसका द्वितीय उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। भारत के इतिहास का तब केवल भाव-नोत्तेजक अध्ययन ही नही वैज्ञानिक परिशीलन भी हो उठा था, और इसकी यथार्थ समीक्षा भी। प्रसादजी में यह प्रवृत्ति पूरी जाग्रत है। उनके नाटक अधिकांश ऐतिहासिक हैं, पुराणों से ग्रहण किए हुए कथानक भी ऐतिहासिक धरातल पर हैं। इन नाटकों की भूमिकायें इतिहास की वैज्ञानिक शोध के सुन्दर उदाहरण हैं।

बीस वर्ष से पूर्व की अवस्था में—सन् १६०६ से पहले के प्रसादजी के दो छोटे नाटक 'प्रायश्चित' और 'सज्जन' हैं। 'प्रायश्चित' मे जयचन्द द्वारा पृथ्वीराज विरोध के लिये प्रायश्चित की कल्पना है। जयचन्द सैनप से कह रहा है, "कन्नौज निवासियों से कह देना कि तुम्हारे पापी राजा ने, जिसकी तुम लोगों ने बहुत सी आज्ञाएँ मानी हैं एक अंतिम प्रार्थना यह की है कि यदि हो सके तो शहाबुद्दीन का वध करके उसकी रक्तधारा से दो एक अंजुली, जयचन्द के नाम पर देना, क्योंकि पापियों को नरक में यही तो मिलता है।" जयचन्द गङ्गा में प्रवेश कर ये शब्द कहता है।

"देवि ! एक* तो मैं नहीं कर सका पर दूसरा तो मेरे वश में वह प्रायश्चित करता हूँ। देशद्रोह के लिए आत्मवध।"

इस नाटक में अलौकिक तत्त्वों का सहारा लिया गया है। जय न्द को प्रायश्चित के लिए सन्नद्ध कराने वाली दो विद्याधरियाँ हैं।

'सज्जन' में महाभारत का एक प्रसङ्ग है, दुर्योधन और उसके ाथियों को गन्धर्वों ने पकड़ लिया था और उसे उन्हीं पाण्डवों ने नसे मुक्त कराया, जिन्हें सताने वह गया था। युधिष्ठिर की सज्जनता ो प्रकाशित किया गया है।

उसके बाद प्रसादजी के नाटकों में उत्तरोत्तर श्री बढ़ती गई। शाख, राज्यश्री, जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी, कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त—ये ऐतिहासिक नाटक हैं और 'एक घूँट' तथा कामना' का कथानक लेखक का स्वकल्पित है। उपरोक्त ऐतिहासिक ाटकों में 'विशाख' का काश्मीर के इतिहास से सम्बन्ध है। 'राज्यश्री' ा सम्राट हर्षवर्द्धन से। 'नागयज्ञ' का कथानक महाभारत में से है। अजातशत्रु' महात्मा बुद्ध का समकालीन है। 'ध्रुवस्वामिनी' और स्कन्दगुप्त' गुप्त-कालीन तथा 'चन्द्रगुप्त' मौर्यकालीन।

सभी नाटक सीधे राजतन्त्र से सम्बन्धित हैं और किसी न किसी ाजकीय उथल-पुथल और अशान्ति की कहानी कहते हैं। द्विजेन्द्र ने अधिकांश मुगलकालीन कथाओं पर अपने नाटक खड़े किए, प्रसादजी ने भारतीय इतिहास का वह युग चुना, जो मुसलमान काल से ऊपर था। जिसमें अविकृत भारतीय संस्कृति का चित्र है। सभी में किसी न किसी उथल पुथल का उद्‌घाटन किया गया है, फलतः षडयन्त्र, विद्रोह रक्त और अनेकों संघर्ष इन नाटकों में मिलते हैं। नाटककार ने ऐसे ही घोर विगर्हणा और राजनैतिक पतन के ऐतिहासिक सन्धिकाल के दृश्यों में से भारतीय चरित्र की महानता और राष्ट्रीय सन्देश का आविर्भाव किया है। प्रसादजी के इन नाटकों में भारतीय इतिहास के विविध निर्णायक तत्त्व सजीव हो उठे हैं।

राजतन्त्र से धर्म की समस्यायें गुथी हुई है। जिस धर्म को नाटकों में अपने विविध रूपों में स्थान मिला है, वह मुख्यतः बौद्धधर्म है। 'विशाख' में हमें उसके ह्रास का चित्र मिलता है। कबीर मठ का

* यह एक प्रायश्चित था "मातृवध के लिए शत्रुवध"।

महन्त सत्यशील, लालची, रूपलिप्स सब कुछ है। एक दूसरा भिक्षु महापिङ्गल के कहने पर चैत्य का देवता बनकर चन्द्रलेखा को नरदेव की रानी बनने की प्रेरणा देने को तत्पर हो जाता है, फिर तान्त्रिक बनकर तरला का शेष धन लेकर चम्पत हो जाता है। 'राज्यश्री' में शान्तिभिक्षु को इसी प्रकार स्खलित होकर दस्यु तक बनते देखते हैं। 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में प्रपञ्चबुद्धि कापालिक प्रपञ्च में फँसा हुआ मिलता है। इसके साथ ही 'अजातशत्रु' में बुद्ध की महान् महिमा परिव्याप्त है, 'स्कन्दगुप्त' में भी प्रपञ्चबुद्धि के विपरीत धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति हैं, 'राज्यश्री' में सुमनध्वज और स्वयं हर्ष बौद्धधर्म की उज्ज्वल दिशा प्रकट करते हैं। बौद्धों के यथार्थ रूप के प्रति लेखक की सम्यक् सहानुभूति है।

एक अन्य तत्त्व है जातीय सङ्घर्ष। नागयज्ञ में यह बहुत ही प्रबल हो गया है। आर्य जाति और नाग जाति के पारस्परिक वैमनस्य और दम्भ का रूप इसमें उपस्थित किया गया है। 'विशाख' में भी यह सङ्घर्ष विद्यमान है पर वह केवल संकेत बनकर ही रह गया है, कथा ने 'नागयज्ञ' की भाँति उसे अपना भोज्य नहीं बनाया। 'स्कन्द-गुप्त' में हूणों के आक्रमण का प्रासङ्गिक वर्णन है।

नाटककार ने इतनी प्रपञ्चपूर्ण भूमिका में से मानवता का उदय कराया है।

आरम्भिक नाटकों के कथासूत्र सरल हैं; फिर वे जटिल होते जाते हैं और यह जटिलता 'चन्द्रगुप्त' में पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। 'विशाख' में 'चन्द्रलेखा' को लेकर सङ्घर्ष उपस्थित हुआ है। पहले तो बौद्ध महन्त उस पर प्रलुब्ध हो जाता है, फिर राजा नरदेव। राजा तो उसे उसके पति विशाख से छीन लेता है और उसके लिए किसी भी सीमा तक भयानक काण्ड करने के लिए तत्पर दीखता है। प्रेमानन्द की उदारता और सेवा का भाव और जनता का विद्रोह चन्द्रलेखा की रक्षा करता है और वस्तुस्थिति सम बनती है। 'राज्यश्री' में एक सूत्र तो राज्यश्री का है। उसका पति मारा जाता है। पहले उसे मालवराज देवगुप्त अपने अधिकार में करना चाहता है। फिर दस्यु उसे छुडाते हैं, दिवाकर मित्र दस्युओं से उसकी रक्षा करता है, निराश होकर वह चिता पर जल मरना चाहती है। तभी हर्ष आता

है। वह हर्ष के साथ राज्य करती है और प्रयाग में वे सर्वस्व दान करते हैं। दूसरा सूत्र 'शान्तिदेव' और सुरमा का है। शान्ति रूप और धन के उच्चाटन से सुरमा को छोड़ राज्यश्री के लिए लपकता है। दस्यु बनता है, सुरमा भी च्युत होकर महत्त्वाकांक्षा में देवगुप्त के साथ रानी बनती है। शान्ति सुरमा को भगा लाता है। वे दोनों गायक बनते हैं। नरेन्द्रगुप्त के षड्यन्त्र के साधन बन राज्यवर्धन की हत्या करके भागते हैं। हुएनच्यांग को पकड़ कर उससे धन चाहते हैं या रक्त। दैवी शक्ति से वाध्य हो वे उसे छोड़ देते हैं। वे जब प्रयाग लूट करने जाते हैं, पकड़ लिए जाते हैं और हर्ष तथा राज्यश्री से क्षमा पाते हैं। ये दोनों कथाएँ एक-दूसरे से उलझती हुई चलती हैं।

'अजातशत्रु' में जटिलता और भी बढ़ती है। एक तो अजातशत्रु सम्बन्धी सूत्र है। छलना अजातशत्रु को राजा बना देती है और बिम्बसार तथा वासवी को बन्दी बना लेती है। इस पर वासवी का भाई प्रसेनजित मुद्रा दान देता है। अजात हार जाता है और बन्दी होता है। वासवी उसे छुड़ा लाता है। दूसरा सूत्र विरुद्धक का है। उसकी उद्दण्डता से रुष्ट हो उसका पिता कौशल नरेश प्रसेनजित उसे दासी पुत्र बता, उसे राज्याधिकार से वञ्चित घोषित कर देता है, प्रतिशोध के लिए शैलेन्द्र साहसिक बन जाता है। मल्लिका पर वह मोहित है, उसके प्रलोभन से उसके पति बन्धुल को मार डालता है, महत्त्वाकांक्षी श्यामा को अपनाता है, जो उसे कैद से छुड़ाती है, पर शैलेन्द्र अवसर पाकर उससे भी पिंड छुड़ाता है, पर अजातशत्रु का पक्ष लेकर कोशल से युद्ध करता है, घायल होने पर मल्लिका की सुश्रूषा से अच्छा होता है और मल्लिका के ही प्रयत्न से वह पुनः अपना अधिकार प्राप्त करता है।

तीसरी कहानी मागन्धी की है। बुद्ध भगवान् के ठुकराये जाने पर वह उदयन की रानी बनती है, वहाँ पद्मावती को नीचा दिखाने के उद्योग में स्वयं षड्यन्त्र का शिकार बन जाने के कारण, छिपकर भाग निकलती है। और श्यामा वेश्या बन कर विरुद्धक को फँसाती है, उसकी यथार्थ सहायता करती है, पर विरुद्धक उसका गला घोटकर भाग जाता है, भगवान बुद्ध उसे प्राण दान देते हैं, वह मल्लिका के आश्रम में आम्रपाली बन जाती है। वहीं भगवान् तथागत की कृपा

उसे प्राप्त होती है, और वह सङ्घ की शरण में चली जाती है।

चौथी कहानी मल्लिका की है—विरुद्धक उसे चाहता है पर बन्धुल से उसका विवाह हो जाता है बन्धुल की प्रसेनजित की प्रेरणा से हत्या होती है पर मल्लिका उसे क्षमा करती है। बुद्ध धर्म में दीक्षित है वह सब को क्षमा करती है विरुद्धक को और अन्त में विरुद्धक को प्रसेनजित द्वारा क्षमा कराती है।

पाँचवी कहानी उदयन की है। वह मागन्धी के भ्रम में पड़ कर पद्मावती को मारने को सन्नद्ध हो जाता है पर भ्रम का उद्‌घाटन हो जाता है। और वासवदत्ता के उद्योग से पद्मावती के सत्य की रक्षा हो जाती है।

छटी कहानी देवदत्त और भगवान बुद्ध की है। देवदत्त भगवान बुद्ध से प्रतिद्वन्द्विता ठानता है, उन्हें स्थान-स्थान पर नीचा दिखाना चाहता है प्रतिपद पर उसे ही नीचा देखना पड़ता है।

'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में इस अजातशत्रु से भी अधिक जटिलता आ जाती है। एक कहानी स्कन्दगुप्त की है, दूसरी पुरगुप्त और भटाक की है—स्कन्दगुप्त मगध से असन्तुष्ट है, फिर भी साम्राज्य रक्षा के लिए मालव की सहायता करता है, मालव म सम्राट पद प्राप्त करता है, फिर षडयन्त्र में घिर कर कुछ काल के लिए लुप्त हो जाता है। उसका पुनरोदय होता है और साम्राज्य प्राप्त करता है। पुरगुप्त, अनन्तदेव, भटार्क और प्रपञ्चबुद्धि के हाथ का खिलौना बना हुआ विविध षडयन्त्रों में लिप्त होता है, अन्त में स्कन्द उसे क्षमा करता है। तीसरा सूत्र देवसेना और विजया का, चौथा मातृगुप्त का, पाँचवाँ धातुसेन का, छठा शर्वनाग का है। यही नहीं कि विविध सूत्रों की गिनती अधिक है, पर इसमें ये छोटे बड़े सूत्र 'अजातशत्रु' की अपेक्षा बहुत अधिक उलझे हुए हैं। किसी सूत्र का कोई भाग कहीं स्फुट होता है, कोई कहीं। उदाहरणार्थ देवसेना मालव में दिखाई पड़ती है, फिर प्रपञ्चबुद्धि की उग्रतारा के लिए बलि के लिए उसे नाटककार प्रस्तुत करता है, स्कन्दगुप्त के प्रेम में मग्न होते-होते वह हमें कनिष्क स्तूप के पास पर्णदत्त के साथ भिखारिन बनी दीखती है ··· इसी प्रकार सभी सूत्र उलझे हुए हैं।

और सबसे अधिक जटिल है 'चन्द्रगुप्त' किन्तु उसकी जटिलता

अन्य नाटकों से बिल्कुल भिन्न है। इसमें त्रिविध कथा सूत्र अलग-अलग प्रभावित होते हुए एक दूसरे नहीं उलझते। इसकी जटिलता स्थूल कथा सूत्रों में नहीं, कथा-सूत्र तो अत्यन्त घनिष्ट रूप से एक ही गति से बिना विशृङ्खलित हुए चला जाता है। यों इसमें कहानियाँ हैं.—(१) राक्षस और सुवासिनी की, (२) अलका और सिंहरण की, (३) शकटार की, (४) चन्द्रगुप्त और कल्याणी की, (५) मालविका और चन्द्रगुप्त की, (६) चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया की, (७) पर्वतेश्वर की और प्रधान कहानी है चन्द्रगुप्त, नन्द, चाणक्य, राक्षस। दो बड़ी कहानियाँ इस एक नाटक में हैं। १—चन्द्रगुप्त द्वारा पञ्जाब की राज्य क्रांति में भाग लेकर सिकन्दर को हराना और मगध का राज्य हस्तगत करना। २—मगध साम्राज्य हस्तगत कर लेने के पश्चात् सिल्यूकस से उसकी रक्षा कराना और कार्नेलिया से विवाह तथा राक्षस की मन्त्री पद पर पुनः प्रतिष्ठा अथवा चाणक्य को सूत्र मान कर देखा जाय तो पहला भाग है उसकी बौद्धिक उत्तेजना का बढ़ते चले जाना, और दूसरा भाग न धीरे-धीरे शमन होना और पूर्ण त्यागी होना। इन विविध सूत्रों और कहानियों की ग्रन्थन में सूक्ष्म जटिलता है। स्थूल रूप से नाटक अन्य नाटकों से अधिक व्यवस्थित और संश्लिष्ट है।

इन सभी नाटकों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि नाटककार के पात्र गिनती में बहुत होते हुए भी स्वभाव भेद से प्रमुखता रखने वाले बहुत हैं और उन्हें प्रत्येक नाटक में देखा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें क्रमशः विकास होता गया है। अब एक पात्र ऐसा मिलेगा, जो अन्तर में विरक्ति का बीज लिए हुए बाह्यतः अनुरक्त है, और सबसे अधिक क्रियाशील दिखाई पड़ता है, जिसके मार्ग में पतन नाम की चीज नहीं, सत्य को सम्भवत. वह ग्रहण कर चुका है और अपने चरित्र में वह बढ़ता हुआ उसका विकास ही करता जाता है—क्रमिक विकास, जिसमें ऊँचाई तो आती जाती है, नीचाई नाम के लिए भी नहीं। विशाख में हमें प्रेमानन्द मिलते हैं, 'राज्यश्री' में इस पात्र की दिवाकर मित्र में केवल एक झलक मिलती है, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में यह पात्र वेद और वेदव्यास में झाँकता तो है पर जैसे शक्ति नहीं ग्रहण कर पाया, 'अजातशत्रु' में यह भगवान बुद्ध बन गया है। 'स्कन्दगुप्त' में फिर यह ओझल हुआ है, यद्यपि इसके गुण स्कन्दगुप्त में हो झिलमिला उठे हैं, और कुछ क्षण के लिए

समझा जाता है दूसरी ओर उसी अहिंसा व्रत के लिए आग्रह है। सत् और असत् के इस द्वन्द्व में सत् की विजय होती है। प्रसाद का यह आशावाद उनकी निजी विशेषता है। प्रेम और अहिंसा जीवन समता और शान्ति स्थापित करने के लिए लाए गये हैं। बिम्बसार के चरित्र में यद्यपि एक अल्प अकर्मण्यता मिलती है, लेकिन अन्य स्थलों में तो सर्वत्र बौद्ध धर्म का दुःखवाद कर्तव्य पर ही जोर देता है। उसकी वीतराग प्रवृत्ति जीवन में उच्चता ही लाती है।

नाटक का नायक 'अजातशत्रु' है। अजातशत्रु में नायक का उत्तरदायित्व नहीं। वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष अवश्य है, नाटक का नायक बनने की उसमें क्षमता है पर इस नाटक में वह पात्रों की गति को आगे सञ्चालित करता हुआ दिखलाई नहीं पड़ता। नायक का ओज, तेज और अग्रसरता उसमें नहीं। एक झीने आवरण के अन्दर से उसकी नेतृत्व शक्ति झलकती अवश्य है। उसकी प्रवृत्ति सहज ही क्रूर और हिंसात्मक है। उसके चित्रण के लिए मृगशावक चाहिए ही। देवदत्त और समुद्रगुप्त की सङ्गति से उसकी इस मनोवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिलता है, फिर छलना जो उसकी संरक्षिका, माता और सञ्चालिका है! पर अधिकतर वह एक आलसी, किंकर्तव्य-विमूढ सा पात्र है! उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं—सभी स्थलों पर दूसरों से प्रभावित और प्रदर्शित प्रतिहिंसा की चिनगारी को ले वह मल्लिका के यहाँ जाता है, प्रेम और दया की भिक्षा को ले वापस लौटता है। युद्ध को जघन्य कर्म समझ वह अकर्मण्य हो जाता है। दूसरे ही क्षण छलना को व्यङ्गमय फटकार उसे युद्ध के लिए प्रस्तुत कर देती है। इस तरह एक गुड़िया की तरह उसका व्यक्तित्व शून्य सा रहता है। क्या यही अजातशत्रु नाटक का नायक है ? पर एक बात है, नाटक के सभी सूत्र अजात से सम्बन्धित हैं, या तो वे उसको लेकर चलते हैं या वे उस पर आकर मिलते हैं। मगध में छलना की लालसा का केन्द्र वही है और कोशल तथा कोशाम्बी के विद्रोह भी उस पर आकर अटक जाते हैं। इस दृष्टि से भले ही उसे नाटक का नायक मान लिया जाय, अन्यथा नाटक नायकहीन ही है।

विरुद्धक में हम फिर भी ओज पाते हैं। उसमें तेज और महत्त्वाकांक्षा है, यौवन की लालसा और अवरुद्ध उत्साह है। सबसे

ऊपर उसे अपनी भुजाओं पर विश्वास है। उसके जीवन की इस गति की सञ्चालिका उसकी माँ अवश्य है, लेकिन वह सामने नहीं आती। पर श्यामा के प्रति विरुद्धक की क्रूरता को क्या हम क्षमा कर सकते हैं? मनुष्य के पतन की क्या वह चरम नहीं? जिस नारी ने अपने रूप और यौवन को विश्वास के साथ उसे समर्पित कर दिया, क्या उस विश्वास का गला नही घोंटा गया? नाटककार इसका समाधान केवल एक तर्क से करता है कि यह जघन्य कर्म श्यामा के त्रियाचरित्र को मिटाने के लिए किया गया। मरते ही इस नाटकीय घटना से बुद्ध के चरित्र की उज्ज्वलता निखरी हो, क्या विरुद्धक से वीर के लिए यह लज्जा की ही वस्तु मानी जायगी।

विम्बसार एक विरक्त दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आता है। वह एक सैद्धान्तिक व्यक्ति है, अपने आप में व्यस्त-जीवन की ग्रन्थियों को सुलझाने में परेशान। वुद्धि के संकेत पर वह राज्य त्याग देता है। कभी-कभी उसे अपनी अकर्मण्यता पर खीझ अवश्य उत्पन्न होती है, पर वह विवश है। उसको यह अकर्मण्यता स्वभाव-जन्य नही। उसे धार्मिक और दार्शनिक प्रश्रय मिल जाने के कारण ही वह हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है। विम्बसार की अन्तर्चेतना में हमें प्रसादजी का भाग्यवाद मिलता है। विम्बसार यदि सम्राट न होकर किसी विनम्रता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अध-खिला फूल होता है तो शायद उसे अधिक प्रसन्नता होती। राज्य की तह में सुलगती हुई विद्रोह की आग और मानव-जीवन की करुणा व्यथा से वह उत्पीड़ित है। उनके निष्क्रिय जीवन की हम प्रशंसा नही कर सकते, न उससे घृणा ही करते बनती है।

पुरुप पात्रों में इस तरह गति नहीं, जीवन नही। विरुद्धक है पर वह सहानुभूति नही पाता। बन्धुल है पर शीघ्र ही उसकी जीवन यवनिका समाप्त हो जाती है। अजात भी निष्क्रिय नायक (Passive Hero) है। प्रेरणा मिलने से ही वह गतिशील होता है। स्त्री-पात्र अवश्य ही सजीव हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने पुरुष को कोमल से बाँध रखा है।

छलना में मातृत्व की महत्वाकांक्षा है। सपत्नीक द्वेष उसमें रोष का प्रमुख कारण नही। यह द्वेप स्वभावजन्य नही मालूम पड़ता।

इसमें तेज है, ईर्षा है, प्रतिद्वन्द्विता है, राजमाता बनने की लालसा है। इसीलिए वांछित और अवांछित मार्गों को अपनाने में वह नहीं झिझकती। काशी पर अधिकार प्राप्ति का सन्देश वह स्वयं वासवी को सुनाने के लिए जाती है। वासवी को चिढ़ाना ही उसका मुख्य ध्येय है। अजात के बन्दी होने पर माता की ममता उग्र रूप धारण कर लेती है। पर वासवी के चरित्र की उज्ज्वलता और पवित्रता के सम्मुख उसे झुकना पड़ता है। छलना में इस तरह उफान है, वासवी में सयम। वासवी की पति में भक्ति है, छलना को भी उनसे कोई द्रोह नही। वासवी के हृदय में भी मातृत्व विकसित हुआ है पर उसका दृष्टिकोण दूसरा है। पद्मावती उसके चरित्र की पवित्रता का प्रतिनिधित्व करती है। बन्दी अजात के लिए वासवी स्वयं व्यग्र हो उठती है। छलना को स्वीकार करना पड़ता है कि अजात की सच्ची माता यही है, वह स्वयं तो एक धाय ही रही। बिम्बसार की दार्शनिक प्रवृत्ति का उसमें (सैद्धान्तिक नही) व्यावहारिक रूप पाते हैं। काशी पर अधिकार बनाए रखने की आवश्यकता उसे पति की सुविधा के लिए ही प्रतीक होती है। छलना से उसे कोई द्वेष नही। बौद्ध भावनाओं से वह प्रभावित है। प्रेम, दया और अहिंसा उनके जीवन के मन्त्र हैं, भारतीय नारी की वह शुद्ध प्रतिमूर्ति है। माता का स्नेह, रानी का उत्तरदायित्व और नारी का गौरव उसमें मिलता है।

मागधी का एक उलझा हुआ चरित्र (Complex character) है! उसके जीवन में कितने ही उतार चढ़ाव आते हैं। रूप और यौवन की अतृप्त लालसा का वह शिकार बनी रही। अन्त में उसके जीवन का भी काया पलट होता है। मल्लिका में शुद्ध निर्मल तेज है। बुद्ध-धर्म की उसमें ज्योति है। सम्राटों के सिर भी उसके सामने झुकते हैं। विरूद्धक का प्रेम उसे अपने मार्ग से नही डिगा सकता। वह मानवी न रहकर देवी बन जाती है।

नाटकीय न्याय प्राय: प्रत्येक पात्र के साथ हुआ है। सभी पात्रों के उद्देश्य पूरे से होते मिलते हैं। समुद्रगुप्त का जीवन समाप्त हो जाता है। देवदत्त का भी पता नही चलता। इतिहास में देवदत्त अपने कुकर्मों से लज्जित हो बुद्ध के पास क्षमा माँगने के लिए जाता है, पर रास्ते में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ इस वर्णन में एक नाटकीय

परिवर्तन कर दिया गया है। जीवक के चरित्र के साथ ऐतिहासिक न्याय नहीं किया गया है। जीवक एक कर्मठ पुरुष था और सुयोग्य वैद्य। एक साधारण विदूषक के द्वारा उसका मजाक कराया जाना अशिष्ट लगता है। ऐसे इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति से दूत कार्य कराना अच्छा नहीं लगता। हास्य भी निखर नहीं सका। अच्छा हुआ कि प्रसाद ने आगे चलकर 'चन्द्रगुप्त' में हास्य का पुट नहीं मिलाया।

अजातशत्रु द्वारा बिम्बसार की हत्या प्रसादजी को स्वीकार नही थी। नाटक के अन्त में बिम्बसार का लड़खडा कर गिरना उसकी स्वतः मृत्यु का सूचक है। स्वतः से यह तात्पर्य नहीं कि वह स्वयं मरना चाहता था। उसकी मृत्यु से नाटक दुखान्त नही हो पाया है। उसकी अन्तिम साँस में सुख और सन्तोष व्यञ्जित होता है। स्वय पिता हो जाने पर अजातशत्रु ने पिता के हृदय को पहचाना है। अपनी भूल पर उसे दुःख है। पिता से वह क्षमा याचना करता है। छलना भी पश्चाताप करती है। इस आकस्मिक प्रसन्नता का भार बिम्बसार वहन नहीं कर सका। निष्क्रिय नायक अजातशत्रु की सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। नाटक का उद्देश्य सफल बन पड़ा है। इस तरह एक सुखमय आत्मा (Spirit) के साथ नाटक समाप्त होता है।

समसामयिकता की छाप भी नाटक में मिलती है। शैली भावात्मक है। भाव और भाषा पर रहस्यवाद तथा छायावाद का प्रभाव है। गान्धीजी की अहिंसा, प्रेम और कर्तव्य-निष्ठा के दर्शन बौद्ध विचारधारा के द्वारा होते हैं। स्वगत कथन और पद्य में उत्तर देने की पद्धति नाटक में कहीं-कही मिलती है। यह सन्तोष का विषय है कि प्रसादजी इस दोष से बहुत कुछ बचे रहे। एक प्रश्न रह जाता है कि इस नाटक का अभिनय भी हो सकता है या नहीं। यह निश्चित है कि सामान्य वर्ग की जनता के लिए इसके अभिनय में आकर्षण नही। प्रसादजी की रचनाओं में प्रसाद गुण का ही अभाव है! कुछ भी हो, यह नाटक हिन्दी नाटकों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

अजातशत्रु : एक दृष्टि



साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति, नाटक के क्षेत्र में भी प्रसादजी का अपना विशेष स्थान है। उनके नाटक प्रधानतः ऐतिहासिक हैं। वे बड़ी खोज के बाद लिखे जाते हैं तथा गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन पर अवलम्बित होते हैं। कई स्थानों पर तो उन्होंने हमारे इतिहास का भी संशोधन किया है। अजातशत्रु द्वारा बिम्बसार का बध उन्हें मान्य नही। इसमें प्राचीन बौद्धकालीन सभ्यता और संस्कृति से पाठकों को अवगत कराना ही हमारे नाटककार का मूल उद्देश्य है। बौद्धकाल के आरम्भिक दिनों की स्मृति को, इसमें नवीन रूप में सजाकर रखा गया है। यह बुद्ध का आविर्भाव-काल था। इसी जगत का एक व्यक्ति हमारे सामने करुणा का एक नूतन और आशाप्रद सन्देश लेकर आया था, किसी ने उसका स्वागत किया और किसी ने उसकी उपेक्षा की। इसी आशा और निराशा के बीच, इस नवीन धर्म का विकास, हमारे कथानक का एक मनोरञ्जक अङ्ग है। जहाँ बिम्बसार, वासवी, पद्मावती और मल्लिका द्वारा इसका पोषण होता है, वही अजातशत्रु, छलना तथा देवदत्त इसे उखाड़ फेंकने का प्राणपन से प्रयत्न करते हैं। परन्तु नाटककार तो बौद्ध धर्म के प्रवर्तक और उसके अनुयायियों के प्रति अपनी स्पष्ट श्रद्धाञ्जलि प्रदान करता है।

ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि पर अवलम्बित होने पर भी कथानक की रोचकता नष्ट नही होने पाई है। मगध, कोशल और कोशाम्बी से सम्बद्ध राज्यों के गृह-कलह आपस के युद्ध और मैत्री व्यापारों से पाठकों को अवगत कराने का बहुत विशद और सफल प्रयत्न किया गया है। अजातशत्रु में लेखक अन्त पुरों में गया है। वहाँ के निजी राजकीय विलासों में उसने कथानक के सूत्र पाये हैं। मगध की, कोशल की, कोशाम्बी की, प्रत्येक-राज्य की अपनी समस्यायें हैं। फिर

भी वे आपस में असम्बद्ध नहीं। प्रत्येक के शासन की तह में विद्रोह की भीषण ज्वाला सुलगती हुई दृष्टिगत होती है। यदि मगध और कोशल में विद्रोह की चिनगारी वहीं के राजकुमारों के हाथों सुलगाई जाती है तो कोशाम्बी में यह सौतिया डाह का प्रतिफलन है। 'अजातशत्रु' में सौतें हैं और सौतिया डाह भी।' 'प्रायः सभी नाटकों में न्याय के महत्त्व को बढ़ाने के लिये, कूटनीति लेखक को प्रिय रही है। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त ... में हमें उसी नीति का चक्र घूमता मिलता है।' यदि प्रसेनजित् ने विश्वासघात से सेनापति बन्धुओं का बध करवा दिया तो उससे मल्लिका का त्याग और महत्त्व तप्त सोने की भाँति निखर उठा। छलना की कूट मन्त्रणा और कुणीक का अशिष्ट व्यवहार बिम्बसार के त्याग को आगे ही बढ़ाने में सहायक हुआ। देवदत्त का विरोध भी यदि कुछ कर सका तो भगवान् बुद्ध के महत्त्व को बढ़ा कर उनके लिए सफलता का मार्ग साफ कर गया। अन्य नाटकों की अपेक्षा 'अजातशत्रु' में लेखक युद्ध व्यवसाय के विरुद्ध रहा है और इसको बहुत दृढ़ता-पूर्वक उसने रखा है।

पात्रों के व्यक्तित्व की ओर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है मानो अजातशत्रु में 'कवि ने पुरुष को कोमल से बाँध रक्खा है।' पुरुष स्त्रियों के इङ्गित पर नाचने वाले हैं। इनका व्यक्तित्व स्त्रियों के व्यक्तित्व के नीचे दब सा गया है। स्त्रियाँ अधिक सतेज और जाग्रत हैं और वे ही 'जाग्रत और जीवित सुकुमार राज-कन्याएँ नाटकीय गतिविधि की नियामक तथा संचालक हैं, उनके व्यक्तित्व की परिधि में घिरे-घिरे पुरुष को हम चलते पाते हैं।' छलना और मल्लिका इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

छलना मगध-सम्राट की छोटी रानी और अजातशत्रु की माँ है। इसी की देख-रेख में सारे मगध-राज्य का सञ्चालन होता है। इसे राजमाता होने का गर्व है और वीरप्रसू होने की महत्त्वाकांक्षा। अजातशत्रु में जो कुछ भी पुरुषार्थ दृष्टिगत होता है, वह इसी के निरन्तर उत्साहित करते रहने के फलस्वरूप है। इसी प्रकार विरुद्धक का पुरुषार्थ भी उसकी माँ शक्तिमती की महत्त्वाकांक्षा का प्रतिफल है।

आर्या मल्लिका हमारे सामने मानवता के लिए एक आदर्श लेकर उपस्थित होती है। न्याय और सहनशीलता की सजीव मूर्ति

मल्लिका, हमारे नारी-समाज के सम्मुख अनुकरण की जीवित वस्तु है। इसके जीवन की तह में एक साधना है जो दुःखों से पोषित और कठिनाइयों से पल्लवित हुई है। पति की मृत्यु का समाचार पाकर भी यह कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती। यह नारी है और नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है उसे यह भी अनुभव करती है। परन्तु हृदय के अन्तर्द्वन्द्वों को छिपाना यह जानती है। इसे अपने पति की वीरता पर अभिमान है, ज्यों-ज्यों दुख और कठि[illegible]याँ इसके सामने आती जाती हैं, त्यों-त्यों यह लौकिकता के ऊपर उठती जाती है और अन्त में मगध, कोशल और कोशाम्बी के बीच यह एक दवी-सचालिनी शक्ति (Ministring Angel) सी मालूम पड़ती है। सम्राटों को भी इसकी आज्ञा शिरोधार्य है। न्याय और तपस्या की सीढियों पर यह इतनी ऊँची चढ़ चुकी है कि यह एक मानवी नहीं रह जाती। संसार में ऐसे लोग कम पाये जाते हैं, और जहाँ हैं वे वन्दनीय हैं।

वासवी मगध-सम्राट् की बड़ी रानी है। यह पति परायणा है। इसमें दया है, क्षमा है और सहनशीलता है। अपने पति और भगवान गौतम की चिरअनुगामिनी है। इसकी पुत्री पद्मावती, सम्राट उदयन की रानी है। इसमें माँ के सब गुण हैं। पति के लिये यह प्राण तक दे सकती है। पति की तलवार को भी यह प्रसाद के रूप में ग्रहण करती है।

मागन्धी क्या है, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। पहले एक साधारण गृहस्थ की लडकी है, फिर सम्राट उदयन की छोटी रानी है, फिर काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी और तत्पश्चात् आम्रपाली के रूप में हमारे सामने आती है। आरम्भ से अन्त तक यह नियति का खिलौना बनी रही। इसके हृदय में अतृप्त वासना है। इसीसे यह नियति का शिकार बनी क्योंकि यौवन की उद्दाम तरङ्गों पर सर्वदा नियति का प्रकोप होता आया है। रूप का गर्व इसे बहुत ऊँचा चढाकर ले गया और अब उसने इसे उतना ही नीचे पटक दिया। वासना के प्रवाह मे भगवान बुद्ध पर भी इसने अपनी निर्लज्ज दृष्टि डाली थी। "मैंने अपने जीवन के प्रथम वेग में ही आपको पाने का प्रयास किया था। आज मैं अपने स्वामी को, अपने नाथ को अपनाकर धन्य हो रही हूँ। प्रभु! मैं नारी हूँ, जीवन भर अस-

फल होती आयी है। मुझे इस विचार के सुख से वञ्चित न कीजिये।"

अब पुरुष पात्रों की ओर चलें। मगध का सम्राट् बिम्बसार भगवान बुद्ध का अनुगामी है। गौतम के इशारे पर वह राज्य तक छोड़ देता है। यह दार्शनिक सिद्धान्त वाला व्यक्ति है और सदा जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में व्यस्त है। मानव जीवन में जो पीड़ा है, जो चीत्कार है उससे वह व्यथित है। वह अनुभव करता है कि यदि "मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता।"

अजातशत्रु और विरुद्धक दोनों नाटक के सजीवतम पात्र हैं। इनके जीवन में गति है और है यौवन का विद्रोह। दोनों महत्त्वाकांक्षी हैं। सम्राट बनने की लालसा ही इन्हें जघन्य से जघन्य कर्म की ओर प्रवृत्त करती है और यही इनके पतन का मूल कारण है। अच्छे में, बुरे में, सब में, स्त्रियाँ ही इनकी प्रेरणा और इनके पुरुषार्थ की सञ्चालिका हैं। उन्ही की मन्त्रणा से इनका पतन होता है और उन्हीं के उपदेश से इनका उत्थान। इनके जीवन में ऐसे-ऐसे अवसर आये हैं जब ये साधारण मनुष्यता की सतह से नीचे गिरे मालूम पडते हैं। परन्तु फिर भी मल्लिका और वासवी प्रभृति देवियों के सम्पर्क में आकर इनका उद्धार होता है। यही है प्रसाद का आशावाद। मनुष्य नीच से नीच पतित से पतित हो जाता है पर उसका भी उद्धार होता है। हम सबको समय से सबक सीखना होता है और हम सम्हलते हैं।

प्रसादजी की शैली भावात्मक है। इसमें वस्तु जगत् की घटनाओं की भावावेशमयी अभिव्यञ्जना होती है। फलतः भाषा गतिशील, चित्रमयी और आकर्षक है। गद्य में भी हमें पद्यात्मक अभिव्यञ्जना की अनुभूति होती है। यद्यपि पात्रों के साथ भाषा की शैली बदलती नही फिर भी कथोपकथन की शैली मनोवैज्ञानिक होती है और विचारों के अनुरूप ही उसमें कर्कश एवं मधुर पदावलियों का प्रयोग होता है। शैली की भावात्मकता पात्रों को भी भावुक बना देती है। भाषा में निम्नकोटि के पात्र भावुक दीखते हैं भाषा में चमत्कार लाने के लिए वाक्यों को व्याकरण सम्मत बनावट में उलट-फेर किया-

गया है। यथा—"हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषाएँ बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है? ...जीवन की शन्तिमयी सच्ची परिस्थितियों को छोड़ कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा?"

'प्रसाद' जी की लाक्षणिक वैचित्र्य-पूर्ण भाषा में कल्पना की क्रीड़ा के लिए यथेष्ट अवकाश है। जहाँ-जहाँ भी कल्पना के छींटे हैं, भाषा बड़ी सुन्दर हो गयी है। परन्तु लाक्षणिकता और भावुकता के बाहुल्य के कारण कहीं-कहीं इनकी शैली बुद्धि को सहज ग्राह्य नहीं होती है। 'प्रसाद' जी की शैली द्विवेदी युग की नहीं वरन् छायावाद-युग के अरुणोदय की प्रतिनिधि शैली है। इस प्रकार 'प्रसाद' के छायावाद का प्रभाव उनके नाटकों में भी स्पष्ट-रूपेण लक्षित है।

चन्द्रगुप्त

मुद्राराक्षस तथा प्रसादजी और डी० एल० राय महोदय के चन्द्रगुप्त की तुलनाएँ

चन्द्रगुप्त का नाम भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। विदेशियों द्वारा लिखे हुए इतिहास में भी हम चन्द्रगुप्त का नाम सर ऊँचा करके पढ़ सकते हैं। पहले पहल चन्द्रगुप्त का नाटक रूप में वर्णन विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस में किया है। आजकल भी चन्द्रगुप्त के नाम से दो नाटक निकले हैं किन्तु इनमें और मुद्राराक्षस में अन्तर है। उस नाटक में चन्द्रगुप्त चाणक्य के हाथ में कठपुतली मात्र है। वह नाटक चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक घात-प्रतिघात का खेल है। उसमें दो स्वामिभक्त खिलाड़ियों की शतरञ्ज की चालें हैं। काठ की गोटों के स्थान में जीते-जागते पात्र हैं जिनमें प्रधान चन्द्रगुप्त है। नाटक के आरम्भ से ही चन्द्रगुप्त मगध सिंहासन पर है। राक्षस अपने स्वामी नन्द का पक्ष लेते हुए चन्द्रगुप्त के स्थान में किसी दूसरे को राजपद पर स्थापित करना चाहता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त की रक्षा करता है। राक्षस अपनी स्वामिभक्ति में अटल रहता है। चाणक्य राक्षस की बुद्धि और स्वामिभक्ति का लोहा मानते हुए चन्द्रगुप्त के हित में यही चाहता है कि राक्षस उसका मन्त्रीपद स्वीकार करलें। चाणक्य की सारी चालों का यही फल होता है। राक्षस मन्त्रित्व स्वीकार करने को बाधित हो जाता है। यही इस नाटक की फल सिद्धि है। इसमें केवल बुद्धि और कूटनीति का चमत्कार है। इस नाटक की कथावस्तु भी काफी पेचीदा है। इसमें कोमल भावों के लिए स्थान नहीं है। शृङ्गार का नितान्त अभाव है। चन्दनदास और राक्षस का सख्य तथा दोनों मन्त्रियों की स्वामिभक्ति दर्शनीय

है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त को मुरा-पुत्र ही माना गया है।

चन्द्रगुप्त को ही लेकर आधुनिक युग के दो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के महान कलाकारों ने जिनमें एक हैं बङ्गाल के द्विजेन्द्रलाल राय और दूसरे बनारस के जयशङ्करप्रसाद—नाटक लिख कर अपनी-अपनी भाषा का गौरव बढ़ाया है। इन दोनों नाटकों का दृष्टिकोण मुद्राराक्षस से भिन्न है। इन दोनों में चन्द्रगुप्त अपने गुरुदेव चाणक्य के अतिरिक्त अपना कुछ व्यक्तित्त्व रखते हैं (एक स्थान में मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त ने अपना व्यक्तित्त्व दिखलाया है, किन्तु वह चाणक्य की मन्त्रणा से) और अपने पौरुष के साथ अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं। दोनों ही नाटककारों ने यूनानी सेनापति सिल्यूकस की दुहिता से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है। किन्तु राय महोदय ने उसका नाम हैलन रक्खा है, प्रसादजी ने उसका नाम कार्नेलिया रक्खा है। इन दोनों नाटकों में मन्त्रियों की चोट नहीं है वरन् भारत और यूनान की सभ्यताओं की चोट है अथवा दूसरे शब्दों में चाणक्य और अरस्तू की चोट है। दोनों ही में विवाह सम्बन्ध द्वारा भारत और यूनान में सन्धि स्थापित होती है।

उपर्युक्त बातों में समानता होते हुए भी बहुत सी बातों में भेद है। वास्तव में तुलना के लिए समान वस्तुएँ ही तराजू के पलड़े में रक्खी जाती हैं। प्रान्तीय साहित्यों में ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का कम अवसर मिलता है क्योंकि दो भिन्न कलाकार एक ही विषय पर कम लिखते हैं। पहले यह बतला देना आवश्यक है कि राय महोदय ने मुगल कालीन भारत के चित्रण में विशेषता प्राप्त की है और प्रसादजी की प्रतिभा मध्यकालीन भारत के चित्रण में अधिक प्रस्फुटित हुई है।

यद्यपि राय महोदय की पुस्तक पहले की है तथापि प्रसादजी की पुस्तक उसका अनुकरण नहीं कही जा सकती है। दोनों नाटकों में चन्द्रगुप्त के जन्म के सम्बन्ध में भेद है। राय महोदय ने विशाखदत्त के साथ सहमत होते हुए चन्द्रगुप्त को नन्द की दासी मुरा शूद्रा रानी का पुत्र माना है और प्रसादजी ने अपने नायक को मौर्य नामक क्षत्रिय सेनानायक का पुत्र माना है। बौद्ध इतिहासकार ऐसा ही मानते हैं। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को मुरा का पुत्र मानकर नाटक में शूद्र माता का स्वाभिमान दिखलाने का अच्छा अवसर पाया है।

इस सम्बन्ध में नन्द और मुरा का वार्तालाप बड़ा आकर्षक है। प्रसाद जी ने इस प्रकार के वार्तालाप का मोह छोड़कर बौद्ध लेखकों के साथ सहमत होते हुए प्राचीन शास्त्रकारों के मत के अनुकूल अपने नायक को कुलीन नायक रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। जब उसके लिए आधार है तो कुलीन ही क्यों न रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त भाई के मारने में अधिक नृशंसता है। राय महोदय इस बात को स्वीकार करते हुए चन्द्रगुप्त को अर्जुन की भाँति इस कार्य से विचलित भी कराते हैं। अन्त में नन्द को क्षमा भी कराते हैं। यह सब स्वाभाविक है। दोनों ही नाटककारों ने नन्द का वध शकटार के हाथ से कराया है। यह ठीक है क्योंकि शकटार को ही नन्द से व्यक्तिगत द्वेष था उसी के सात पुत्र मारे गये थे।

नन्द की हत्या में दोनों ही नाटककार चन्द्रगुप्त को भी निर्दोष रखते हैं। प्रसादजी ऊपरी तौर से चाणक्य को भी निर्दोष रखते हैं। वह नागरिकों से नन्द के छोड़ दिये जाने का प्रस्ताव करता है किन्तु शकटार सहसा आकर अपना बदला लेने को उसकी छाती में छुरा भोंक देता है। राय महाशय चाणक्य और मुरा दोनों को ही कात्यायन के साथ नन्द की हत्या में लपेटते हैं। राय महोदय कात्यायन और शकटार को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु कात्यायन जैसे व्याकरण के पण्डित से वधिक का काम लेना जरा अनुचित सा मालूम पड़ता है। राय महाशय ने चाणक्य की आज्ञा से नन्द की हत्या कराना दिखाया है। वह चाणक्य के स्वभाव के विरुद्ध नहीं है किन्तु मुरा का बीच में आकर आदेश देना कुछ अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। कम से कम मुरा के पूर्व कथित वाक्यों के सर्वथा विरुद्ध है। मुरा को मानसिक आघात जरूर पहुँचा था किन्तु चन्द्र के द्वारा कात्यायन के रोके जाने पर भी उसका (मुरा का) बीच में आ जाना और आग्रह पूर्वक वध की आज्ञा देना विमाता को उच्च भावों से वञ्चित कर देना है। उसका पीछे से रोना और यह कहना "मैं तो इसकी रक्षा करने आयी थी" चाहे वास्तविक क्यों न हो विडम्बना मात्र दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि राय महाशय ने राज्य-विप्लव के कार्य को एक गृह-युद्ध का रूप दिया है। उन्होंने प्रसादजी की भाँति सब काम एक दिन में नहीं समाप्त

किया। राय महाशय ने नन्द को बन्दी कराकर फिर बध कराया है। प्रसादजी ने तुरन्त ही उसका काम तमाम कर दिया है। राय महाशय ने नन्द के लिए कोई रोने वाला नहीं रक्खा। प्रसादजी ने नन्द की पुत्री कल्याणी की सृष्टि की है जो वास्तव में कल्याणी थी। अपने पिता के कुशासन का विरोध करते हुए भी और चन्द्रगुप्त से प्रेम करते हुए भी उसने पिता के बध होने पर आत्महत्या कर ली।

प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के राक्षस और वररुचि (कात्यायन) दोनों ही आमात्य माने हैं। राय महोदय ने केवल कात्यायन जिसका उन्होंने शकटार के साथ तादात्म्य किया है मन्त्री रक्खा है। शकटार को भी मन्त्री बनाने का प्रमाण है किन्तु यह नहीं मालूम कि राय महोदय ने शकटार और कात्यायन का किस आधार पर एकीकरण किया है। राय महोदय ने कात्यायन को चाणक्य से मिला दिया है अर्थात् दोनों ही के योग से नन्द का पतन होता है।

चाणक्य और नन्द के बैर में दोनों नाटककारों ने भिन्न-भिन्न मूल कारणों के आधार पर चाणक्य और नन्द का बैर कात्यायन को साजिश से कराया है। राय महोदय ने चाणक्य को नन्द के यहाँ पुरोहित कर्म के लिए आमन्त्रित करा कर नन्द के साले वाचाल द्वारा उसका अपमान कराया है। प्रसादजी ने नन्द और चाणक्य का पुराना बैर दिखाया है। नन्द ने चाणक्य के पिता चणक का सर्वस्व हरण कर लिया था इसीलिए चाणक्य स्वयं ही नन्द से क्रोधित था और तक्षशिला से लौटने पर चाणक्य का नन्द की सभा में अपमान हुआ। इस बात ने चाणक्य के बैर-भाव को और भी उग्र बना दिया था।

यूनानियों के सम्बन्ध में राय महोदय चन्द्रगुप्त को भेदिये के रूप में सिकन्दर और सेल्यूकस के साथ स्टेज पर लाते हैं। चन्द्रगुप्त अपने वाक्चातुर्य तथा सिकन्दर की उदारता से कैदी होने से बच जाता है। प्रसादजी इसके पूर्व की भी कथा बतलाकर पाठकों को आश्चर्य में नहीं रखते। राय महाशय सिकन्दर के सामने सेल्यूकस और एन्टीगोनस के साथ वाक् युद्ध कराते हैं। प्रसादजी के नाटक में एन्टीगोनस का स्थान फिलिप्स ले लेता है। प्रसादजी के नाटक में चन्द्रगुप्त सिकन्दर के देखते-देखते अपने बाहुबल से अपने को मुक्त कर भाग

जाता है, यह जरा अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त इस मौके पर बड़ी निर्भयता से बात-चीत करता है और सिकन्दर को लुटेरा तक कहने में नही चूकता। राय महोदय का चन्द्रगुप्त स्वाभिमान रखते हुए परिस्थिति से कुछ डरा हुआ प्रतीत होता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त सिंह की तरह निर्भय है। वह सिकन्दर से कहता है "लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को बीच में एकत्रित करके उन्हें वीर सेना कहना रण कला का उपहास करना है।" आम्भीक के कहने पर कि शिष्टता से बातें करो चन्द्रगुप्त उत्तर देता है कि वह भीरु कायरों की सी वञ्चक शिष्टता नही जानता।

राय महोदय ने अपने नाटकों में सिकन्दर के युद्ध और उसमें उसके जख्मी होने का कोई उल्लेख नही किया। प्रसादजी ने उस ऐतिहासिक घटना का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है इसमे चाहे ब्यौरे की भूल हो परन्तु वर्णन भारत के गौरव को बढ़ाने वाला है। इसमें भारतीयों की उदारता का परिचय दिया गया है।

सेल्यूकस की चढ़ाई के सम्बद्ध में दोनों लेखकों के वर्णन प्रायः एक से ही हैं। केवल इतना ही अंतर है कि राय महाशय की हेलना विश्व प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह अपने पिता को इस युद्ध के लिए बहुत कुछ रोकती है, यहाँ तक कि कुछ अशिष्टता की भी बातचीत कर बैठती है यद्यपि पीछे से माँफी माँग लेती है। प्रसादजी की कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के प्रति व्यक्तित्व आकर्षण से अधिक प्रेरित प्रतीत होती है।

राय महाशय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के चले जाने से कुछ हताश सा हो जाता है। बीच में ऐसी कमजोरी का आजाना अस्वाभाविक नही है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त अविचलित रहता है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त के चरणों में सफलता लोटती सी मालूम पड़ती है। राय महोदय के चन्द्रगुप्त को सफलता कुछ परिश्रम के साथ मिलती है। दोनों ही नाटककारों ने शत्रु सेना में राक्षस या कात्यायन के रूप में एक भेदिया पहुँचा दिया है। दोनों ही नाटककारों ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के वैमनस्य हो जाने का वर्णन किया है किन्तु दोनों का ही वर्णन विशाखदत्त के आधार पर है पर ब्यौरे में कुछ भेद है। मुद्राराक्षस द्वारा हमको चन्द्रगुप्त में थोड़े स्वाभिमान की रेखा जाग्रत होने का पता चलता है किन्तु वह भी चाणक्य की कूटनीति का एक अङ्ग था जिससे कि राक्षस

को यह धोखा हो जाय कि अब चाणक्य इसकी सहायता में नहीं है। मुद्राराक्षस में जिस उत्सव का उल्लेख है वह बसन्तोत्सव है। इन नवीन नाटकों में स्वयं चन्द्रगुप्त का विजयोत्सव है। इस बात में मैं समझता हूँ कि विशाखदत्त ने अधिक बुद्धिमता से काम लिया है। सार्वजनिक उत्सव के बन्द होने से राजा को क्रोध आना स्वाभाविक सा प्रतीत होता है। अपने विजयोत्सव पर भी क्रुद्ध होना कोई अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उसमें अधिक बड़प्पन नहीं दिखलाई पड़ता। प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के मुख से उसके माता पिता के रूठ जाने के ऊपर अधिक जोर दिलवाया है। दोनों ही नाटककारों का वर्णन प्राय एक सा है। दोनों ही में यह दिखलाई पड़ता है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य का नियन्त्रण कुछ अखरता है। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को इतना उत्तेजित कर दिया है कि वह चाणक्य को कैद करने की आज्ञा दे देता है किन्तु चाणक्य के आतङ्क के कारण उसके रोक देने पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि उसे पकड़े। गुरुदेव को कैद करने की आज्ञा देना कुछ अनुचित प्रतीत होता और अशिष्टता का परिचय देता है।

उत्सव को रोकने में चाणक्य की बुद्धिमता का परिचय चन्द्रगुप्त को शीघ्र ही लग जाता है—इस बात को दोनों ही नाटककारों ने दिखलाया है और दोनों ही ने विशाखदत्त का आश्रय लिया है। किन्तु अन्तर इतना है कि प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए उसी घटना में मालविका का बलिदान कराया है। इस बलिदान में त्याग और प्रेम की पराकाष्ठा अवश्य है किन्तु वह बहुत आवश्यक नहीं है। जैसा राय महोदय ने दिखलाया है वैसे बिना मालविका के बलिदान के ही चन्द्रगुप्त की रक्षा हो सकती थी।

मालविका के बलिदान से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि कार्नेलिया का पथ निष्कण्टक हो जाता है और चन्द्रगुप्त तथा राजमाता के लिए यह धर्म सङ्कट नहीं रहता कि किसके साथ विवाह किया जाय। मालविका यदि जीवित रहती तो कठिन समस्या आती—एक ओर तो मालविका का आत्म-बलिदान और प्रेम, दूसरी ओर कार्नेलिया चन्द्रगुप्त का परस्पर प्रेम तथा राजनीतिक आवश्यकता। राय महोदय ने छाया और हेलना (जो कि मालविका और कार्नेलिया के स्थानापन्न हैं) के सम्बन्ध में इस समस्या का बड़ी सुन्दरता के साथ

हल किया है। इन्होंने दोनों ओर से उदारता की पराकाष्ठा दिखलाई है। हेलना के मुख से क्या ही सुन्दर शब्दों में कहलाया है—"आओ वहिन हम दोनों नदियाँ एक ही सागर में जाकर लीन हो जायँ। सूर्य किरण और वृष्टि मिल कर मेघ के शरीर में इन्द्रधनुष की रचना करे। काहे का दुख है वहिन, एक ही आकाश में क्या सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते।" यह समझौता वड़ा सुन्दर और काव्यपूर्ण है किन्तु इसमें दो विवाह का नैतिक प्रश्न रह जाता है और नाटक में जहाँ सभ्यताओं की चोट दिखाई है वहाँ दो विवाह की प्रथा से देश का नैतिक मान घटाना वहुत सुन्दर नहीं जँचता ! अन्त में हम हेलना अथवा कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह के सम्बन्ध में यह अवश्य कहेंगे कि राय की हेलना विश्व प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह निजी आकर्षण से चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने के लिए इतनी लालायित नहीं जितनी कि वह दो महान देशों में सन्धि स्थापन के लिए। प्रसादजी की कार्नेलिया चन्द्रगुप्त की ओर कुछ आकर्षित मालूम पड़ती है और वह इस विवाह को बलिदान नहीं समझती।

राय महाशय की हेलना विश्व प्रेम के आवेग में थोड़ी देर के लिए पितृ-स्नेह को भूल जाती है, यद्यपि वह पीछे से सुधर जाती है। वह सेल्यूकस की हार पर एक तरह से प्रसन्न होती है। प्रसादजी की कार्नेलिया में यह वात नहीं। उसमें पिता और पुत्री का सम्वन्ध अधिक स्वाभाविकता के साथ निभाया गया है। राय महोदय के सेल्यूकस में स्वदेशाभिमान अधिक है वह हेलना के विवाह के समय राज दरवार में नहीं जाता। प्रसादजी का सेल्यूकस दरवार में जाता है पर कुछ अनिच्छा से।

प्रसादजी चन्द्रगुप्त के मुख से सेल्यूकस को विजेता कह कर सम्बोधित कराते हैं। इसमें कुछ व्यङ्गय की ध्वनि सुनाई पड़ती है जो ऐसे अवसर पर थोड़ी अनुचित जान पड़ती है।

दोनों ही नाटककारों ने कूटनीति-विशारद नृशंस हृदय चाणक्य में कुछ कोमलता के भाव दिखलाये हैं। राय ने चाणक्य की अपनी खोई हुई लड़की के प्रति वात्सल्य का भाव जो नाटक के महत्त्व को वढ़ा देता है—खूव दिखाया है। प्रसादजी ने सुवासिनी के प्रति चाणक्य के हृदय में कोमलता का स्थान रक्खा है किन्तु वह अपने

पथ से विचलित नहीं होता और उसका राक्षस से विवाह कराने में सहायक होता है। प्रसादजी ने राक्षस का चरित्र अच्छा तो नहीं दिखलाया है। वह नीचता करता है पर उसके प्रति चाणक्य का उदार भाव सबको सुधार लेता है। प्रसादजी का राक्षस विलासी अधिक है, राजनीतिक कम है। प्रसादजी ने भी उसको मुद्रा से काम लिया। राय महोदय ने उसका कोई उल्लेख नहीं किया।

दोनों नाटकों के अन्तर का सार हम इस प्रकार से कह सकते हैं कि राय महोदय के नाटक में विश्व-प्रेम की झलक अधिक है और प्रसादजी के नाटक में देश में सङ्गठन और राष्ट्रीयता के भावों को जाग्रत करने की गूँज है। संसार में दोनों भाव आवश्यक हैं। इसलिए दोनों ने ही अपनी-अपनी वाणी से अपने-अपने प्रान्त को अलङ्कृत किया है और दोनों ही नाटकों से हम पूर्ण मनोरञ्जन कर सकते हैं।

स्कन्दगुप्त का नाटकत्व

'प्रसाद' की नाट्य कृतियों के रचनाकाल को सुविधा के लिए तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला पूर्व-काल (सन् १९१०-१९१५) है जो नाट्य क्षेत्र में युवक कवि का प्रयास-काल कहा जा सकता है। इस काल में 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित' तथा 'राज्यश्री' का निर्माण हुआ। एकांकी नाटकों में नाटकीय कौशल का प्राय: अभाव पाया जाता है। 'करुणालय' गीति-नाट्य है जिसमें कथोपकथन छोड़ नाटकीयता का अन्य कोई विशेष गुण नहीं। इस प्रयास-काल में राज्यश्री नाटकीय दृष्टि से सफल प्रयत्न रहा। वास्तव में इसी नाटक से 'प्रसाद' का रचना-काल प्रारम्भ होता है और उसी में उनकी नाट्य कला के भविष्य तथा स्थायी रूप का आभास मिलता है। मध्य-काल (१९१६-१९२७), 'प्रसाद' की परिपक्वता का काल है जिसमें 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'कामना' तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' की रचनाएँ आती हैं। इस काल में नाट्य-रचना में उनकी कला का पूर्ण विकास हुआ। ऐतिहासिक-क्षेत्र में आशातीत वृद्धि मिली। इस काल की नाट्य-कृति 'कामना', 'प्रसाद' की प्रतीक-प्रियता का प्रतीक है। इसी प्रतीक-प्रियता को उत्तरकाल में काव्य क्षेत्र में 'आँसू' तथा 'कामायिनी' में पूर्ण और अनवरुद्ध विकास मिला क्योंकि इन दोनों कला-कृतियों में जहाँ नाटकीयता का समावेश संभव था वहाँ साथ ही नाटक के प्रतिबन्ध का भी अभाव रहा। उत्तर काल (१९२७-३५) 'प्रसाद' के नाटक काल की प्रौढ़ता का काल है। न केवल नाट्य क्षेत्र में साथ ही काव्य-क्षेत्र में भी 'प्रसाद' की महत्त्वपूर्ण रचनाओं तथा साहित्यिक देन का यही काल है। 'स्कन्दगुप्त', 'एक घूँट', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना इस काल में हुई। इन तीनों कालों पर क्रम से दृष्टि डालने पर

तितली और कङ्काल—दोनों उपन्यासों में प्रसाद अपना मन्तव्य प्रकाशित करने के लिए घटनाओं का सहारा लेते हैं। कुछ उपन्यास लेखकों में इतनी क्षमता होती है कि वे घटनाओं को बाद में दे सकते हैं। पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्टडी में उन्हें बहुत मसाला मिलता है। घटनाएँ तो मनोभावों की शारीरिक चेष्टा मात्र हैं। इस तरह पाठक भी उपन्यास की घटनाओं को इसी अनुपात में देखता है। प्रसाद के उपन्यासों के चरित्र घटनाओं के सहारे मन पर प्रस्फुटित होते हैं।

प्रसाद एक कुशल नाटककार हैं, इसीलिए उन्होंने अपने उपन्यासों में नाटक तत्त्व का अच्छा सामञ्जस्य किया है। प्रेमचन्द अपने पहले के उपन्यासों में पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति समझाने के लिए स्वगत कथोपकथन का आश्रय लेते हैं, परन्तु बाद के उपन्यासों में उन्होंने भी नाटकीय ढङ्ग का स्वागत किया है। प्रसाद अपने पहले उपन्यास कङ्काल में ही सफलता-पूर्वक नाटकीय तत्त्व का सम्मिश्रण कर सके हैं। वह थोड़ा-सा वर्णन करते हैं, फिर पात्र स्वयं वार्त्तालाप द्वारा कथानक को आगे बढ़ाने में समर्थ हो जाता है।

कवि होने के कारण प्रसाद के वर्णन में इतनी तीव्रता आ जाती है कि पाठक झूमने लगता है। उदाहरण के लिए—

जूही की प्यालियों में मकरन्द मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थी और दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था। —कङ्काल

घण्टी के कपोलों में हँसते समय गड्ढे पड़ जाते थे। भोली मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारतो और उभरती हुई वयस-सन्धि से उसकी चञ्चलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए स्थिर न रहतो—कभी अँगड़ाइयाँ लेती तो कभी अपनी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके जब पलकों की आड़ मे छिप जाती तब भी भौंहे चला करतीं। —कङ्काल

शैला ने अपनी भोली आँखों को ऊपर उठाया। सामने से सूर्य की पीली किरणों ने उन्हे धक्का दिया, वे फिर नीचे झुक गईं।
—तितली

फिर (शैला ने) अपने होठों को गर्म चाय में डुबो दिया जैसे उन्हे हँसने का दण्ड मिला हो। —तितली

प्रसाद एक दृश्य को चित्रित करने के लिए किस भाँति शब्द-जाल की रचना करते हैं।

प्रसाद मुख्यतः वार्त्तालाप द्वारा उपन्यास के कथानक को आगे बढ़ाते हैं। इस तरह स्वभावतः उपन्यासों में एक कमजोरी भी आ जाती है। जिन उपन्यासों में कथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-युक्त वर्णन के साथ प्रस्तुत की जाती है, उनमें वार्त्तालाप का अंश एक विशेषता प्राप्त कर लेता है। मुख्यतः वार्त्तालाप भी मनोवैज्ञानिक गुत्थियों पर ही प्रकाश डालता है और इस तरह उसका एक विशेष आकर्षण रहता है। वह कथानक को अप्रधान-रूप में आगे बढ़ाता है। इसके विपरीत नाटकीय ढङ्ग के उपन्यासों में वार्त्तालाप के कुछ अंश का उपयोग कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ही किया जाता है।

टेकनीक के लिहाज से तितली कङ्काल से श्रेष्ठ है। कङ्काल में विविध घटनाओं की जड़ें पात्रों के हृदय में गहरी नही जा सकी। घटना के पश्चात्, उस घटना के साथ पात्र की मनोवैज्ञानिक स्थिति का मेल बैठाने के लिए कुछ शब्दों की आवश्यकता पड़ती है।

कथावस्तु के लिहाज से यह बताना कठिन है कि दोनों उपन्यासों में कौन श्रेष्ठ है। दोनों में वर्तमान की कुछ उपलब्ध समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। सिर्फ यह बात खटकती है कि जब प्रसाद समाज में इतनी क्रान्ति लाना चाहते हैं, तो वे राजनीतिक समस्या से कैसे विलग रह सके। क्योंकि सामाजिक समस्याओं का बहुत कुछ हल राजनीतिक समस्याओं में है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा है। वह किसी एक प्रान्त की नही, समस्त राष्ट्र की है। प्रसाद के उपन्यास भी समस्त राष्ट्र के हैं। तितली में गाँवों की समस्या है, जो समस्त राष्ट्र की है। यह देख कर खुशी होती है कि आज गाँवों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। ऐसा कार्यक्रम प्रसाद बहुत पहले पेश कर चुके हैं। कङ्काल में समाज की ठोकरों की धूल माथे से लगाने वाले व्यक्तियों द्वारा ही भारत सङ्घ संस्था की योजना है।

'इरावती'—एक अध्ययन

'इरावती' प्रसादजी का तीसरा अधूरा ऐतिहाहिक उपन्यास है। 'कङ्काल' और 'तितली' से यह सर्वथा भिन्न है। कङ्काल और तितली में वर्तमान कालीन समाज के उत्थान और पतन का चित्र खींचा गया है। किन्तु इरावती में आज से दो हजार वर्ष पूर्व मौर्य साम्राज्य के क्षय तथा शुङ्ग-वंश की प्रारम्भ-कालीन नष्ट-भ्रष्ट संस्कृति तथा सामाजिक वातावरण का चित्र अङ्कित किया गया है।

'इरावती' ऐतिहासिक उपन्यास है। अत. उपन्यास की समीक्षा करते समय सर्व प्रथम इसके ऐतिहासिक तथ्य की ओर दृष्टिपात कर लेना अनिवार्य होगा। किन्तु इतिहास का अवलोकन करने पर इरावती की अधिकांश घटनायें असङ्गत प्रतीत होने लगती हैं। अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि प्रसादजी इतने बड़े इतिहासज्ञ होते हुए भी इरावती में ऐसी असङ्गत एवं भद्दी भूलें कर बैठे। उपन्यास के अनुसार मौर्य सम्राट शतधनुष की मृत्यु के पश्चात् मौर्य सिंहासन पर वृहस्पति मित्र मौर्य आरूढ़ होते हैं, जो कि इतिहास के सर्वथा प्रतिकूल बैठते हैं। इतिहास के अनुसार मौर्य वश में वृहस्पति मित्र नाम का कोई भी मौर्य सम्राट नही हुआ है। सम्राट संप्रति के अनन्तर केवल चार ही अन्य राजा मौर्य सिंहासन पर बैठे थे। और अन्तिम राजा व्रहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने १८४ ईसवी पूर्व में मार कर शुङ्ग-साम्राज्य की नीव डाली। संप्रति के बाद जिन चार राजाओं की सूची उपलब्ध होती है वह निम्न प्रकार है—

संप्रति (२१६—२०७ ई० पू०)
शालिशूक (२०७—२०६ ई० पू०)
देववर्मा (२०६—१९९ ई० पू०)
शत धनुप (१९९—१९१ ई० पू०)

वृहद्रथ (१६१—१८४ ई० पू०)

पुराणों द्वारा भी वृहस्पति मित्र का मौर्य सम्राट होना प्रमाणित नहीं होता। वायु पुराण में तो समस्त मौर्यवंशी राजाओं के नाम भी गिनाये हैं। इसमें नौ ही राजा वतलाये गये हैं। मत्स्यपुराण तथा विष्णुपुराण में दस राजाओं का उल्लेख है, वायु पुराण में शालिशूक का नाम छूट गया है। किन्तु 'गर्ग संहिता' में संप्रति के वाद शालिशूक को ही उसका उत्तराधिकारी वतलाया गया है। इस प्रकार वृहस्पति-मित्र का कहीं मौर्य सम्राट होने का उल्लेख नहीं है। अतः यह प्रमाणित होता है कि शतधनुष के पश्चात् वृहस्पति मित्र नाम का कोई भी राजा मौर्य सिंहासन पर नहीं वैठा। 'इरावती' में शतधनुष के वाद वृहस्पति मित्र को मौर्यवंशी राजा वतलाकर मौर्य सिंहासन पर वैठाना लेखक की भूल है।

यदि किसी प्रकार शतधनुष के अनन्तर वृहस्पति मित्र का मौर्य-वंशी राजा होना स्वीकार भी कर लिया जाय, तव तो 'इरावती' की अन्य ऐतिहासिक घटनायें असङ्गत ही प्रमाणित होने लग जायँगी। मौर्य सम्राट वृहस्पति मित्र के समक्ष दिमित्र या डिमित तथा कलिङ्ग सम्राट खारवेल जैन के मगध पर आक्रमण और अग्रजिन की प्रतिमा आदि के चले जाने की घटनायें इतिहास असम्मत हैं। शतधनुष का राज्यकाल १६८ से १६१ ई० पू० के वाद माना गया है। अतः वृहस्पति मित्र का राज्य-काल १६१ ई० पू० के वाद माना जायगा। 'इरावती' के लेखक के मतानुसार वृहस्पतिमित्र मौर्य के समय में ही डिमित्र तथा खारवेल के मगध पर आक्रमण हुए थे। किन्तु यवन सम्राट डिमित्र तथा सम्राट खारवेल जैन का आक्रमण काल १७५ ई० पूर्व माना जाता है, जवकि मगध के सिंहासन पर शुङ्गवंश का अधि-कार हो चुका था।

खण्डगिरि पर्वत की हाथी गुफा में उपलब्ध खारवेल के एक शिलालेख द्वारा यह ज्ञात होता है कि जव सम्राट खारवेल ने पहला आक्रमण मगध पर किया तो यवन सम्राट डिमित जो विजय प्राप्त करता हुआ पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था, डरकर मथुरा की ओर भाग गया।

डिमित या डिमित्र का आक्रमण काल १७५ ई० पू० माना गया है। यही पतञ्जलि का समय है। पतञ्जलि के महाभाष्य में यवन

चाणक्य जैसा एकाधिपत्य अपना रख सका होगा, और पुष्यमित्रादि उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते रहे होंगे।

(५) कालिन्दी किसी तरह खारवेल से इरावती का सामना करा देती है। वह गन्धर्व वेद का ज्ञाता इरावती का नृत्य देखने का हठ करता है।

इरावती भावपूर्ण कलात्मक नृत्य करने वाली नर्तकी थी। खारवेल भी कुशल गन्धर्व वेद का ज्ञाता था। इन दोनों ही बातों की पुष्टि क्रमशः मालविकाग्निमित्र नाटक तथा खण्डगिरि के शिलालेख द्वारा होती है। उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में उपर्युक्त संकेत का स्पष्टीकरण भी हो जाता है। इस प्रकार यह लेखक के पाँच संकेत थे।

नारी पात्रों में मानसिक द्वन्द्व तथा प्रतिहिंसा की भावना द्वारा नारी के कोमल हृदय में कठोरता ला उपस्थित करना लेखक को प्रधान विशेषता थी। कहानियों में मधूलिका, लैला तथा चम्पा आदि के चरित्रों में उसका काफी उज्ज्वल रूप भी स्पष्ट हो चुका है। 'इरावती' में इरावती और कालिन्दी का मानसिक द्वन्द्व लेखक की उत्कृष्ट कला की अभिव्यक्ति का परिचायक है। उनके हृदय में एक प्रतिहिंसा की ज्वाला धधकती रहती है। किन्तु एक अज्ञात प्रेम का उन्माद उसे आच्छादित रखता है। कालिन्दी का मानसिक द्वन्द्व देखिये—

"हाँ! मैं सावधान हूँ अग्निमित्र! नन्द की निधि मेरी सम्पत्ति है, और होगी। किन्तु तुम न जाने कहाँ से बीच में आ पड़े। मैं स्त्री हूँ! आह! तुम अग्निमित्र! अब तक जीवित न रहते परन्तु मै अपने हृदय से हारी हूँ। मैं राजप्रेयसी! राजनन्दिनी! अनुग्रह की क्षमता नही खो सकी हूँ।"

लेखक इतिहास को लेकर इस उपन्यास के पूर्व साहित्यिक क्षेत्र में नाटककार के रूप में उपस्थित हुआ था। उसकी ऐतिहासिकता नाटकीय शैली द्वारा ही अधिक परिमार्जित हुई थी। यही कारण है कि इरावती भाषा भाव तथा शैली की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' के जितनी सन्निकट है उतनी 'कंकाल' और 'तितली' के नही। उसका अधिकांश भाग कथोपकथन द्वारा ही आगे बढ़ा है। किन्तु इरावती की भाषा चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट एव संस्कृतमयी हो गई है। प्रतिद्युति, उपोसथागार, प्रत्रा-

रणा, आन्तर्वंशिक इत्यादि कई ऐसे शब्द आये हैं जिनके अर्थ साधारणतया शीघ्र ही नही जाने जा सकते। कहना अनुचित न होगा कि इरावती की भाषा चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त जैसी मधुर एवं सरल नही है। भाषा का जो ओज चन्द्रगुप्त में उपलब्ध होता है वह इसमें दुर्लभ है। फिर भी साधारणतया भाषा अच्छी ही है।

कथानक की दृष्टि से इसमें कङ्कालादि की अपेक्षा एक विशेषता है। वह है घटनाबाहुल्य का अभाव। उसका एक कारण भी है। कङ्कालादि में वर्णनात्मक शैली की प्रधानता है और इरावती में नाटकीय 'कथोपकथनात्मक' शैली की। इसीलिए कङ्कालादि में घटना बाहुल्य है तथा इसमें उसका अभाव।

दूसरे कङ्काल और तितली में कई स्थानों पर कथानक छोटी-छोटी घटनाओं का शृङ्खलात्मक रूप धारण करता हुआ आगे बढ़ता है। इरावती में इस बात का अभाव है। उसमें कथानक कहीं भी जुड़ा हुआ सा नही प्रतीत होता। किन्तु एक ही ठोस रूप में आदि से अन्त तक चलता है।

संक्षेप में, यद्यपि 'इरावती' ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य ही त्रुटिपूर्ण उपन्यास है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से वह एक कलापूर्ण उपन्यास है। यदि उपन्यास पूरा होता तो शायद उसका साहित्यिक मूल्य अधिक बढ़ जाता।

————

प्रसादजी की कहानी-कला



प्रसादजी पारस थे। साहित्य के जिस रूप से उन्होंने हाथ लगाया उसे ही जगमगा दिया। उनके काव्य को कौन सिर नही झुकाता, उनके नाटकों ने हिन्दी में युग परिवर्त्तन किया। यही दशा कहानी क्षेत्र में है। प्रसादजी ने जिस समय लिखना आरम्भ किया, उस समय हिन्दी पर बङ्गला का आतङ्क था। नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की धूम थी। काव्य-कहानी में रवीन्द्र की। प्रसादजी ने बँगला की इन लहरों को झेला, और उनके कलाकार ने मौलिक रचनायें देकर उसके विचार और मानस के धरातल को ऊँचा कर दिया। बँगला के लिए जो लहक थीं, उसका शमन प्रसादजी ने किया—वह प्राय उसी कोटि की वस्तुएँ देकर, जिसकी बँगला दे रही थी।

प्रसादजी की कहानियों का धरातल बहुत ऊँचा है। धरातल की ऊँचाई क्या ? जैसे वे 'ममता' पर लिख रहे हैं। ममता विधवा—उसका जीवन दु ख पूर्ण होगा, वह दुःख सहकर भी अपने सतीत्व की रक्षा करेगी—उसके सामने एक नही अनेकों प्रलोभन और सङ्कट आ सकते हैं, पर वह डिगती नही, जहाँ है वहीं अटल है। ऐसी 'ममता' यदि हो तो उसका धरातल साधारण होगा, पर प्रसादजी की 'ममता' यह सब 'साधारण' लिए हुए इससे ऊपर है। वह वैधव्य की समस्या लेकर नही, उसके सहारे मानवत्व के चिर प्रश्नों को प्रस्तुत करने के लिए उपस्थित हुई है। यह उसमें धरातल की ऊँचाई है। साधारण 'माजिक व्यवहार और आचार से उठकर वह कहानी मौलिक ...नों में परिणति पा लेती है।

...दाहरण लें सालवती। ... में जनपद कल्याणी
... स्पष्ट किया ही गया ... सादजी की देन

कहाँ प्रकट करता है ? यथार्थ पुरुषत्व से स्त्रीत्व के खिंचाव की विफलता के रहस्य का उद्घाटन करने में तथा स्वर्ण, स्वतन्त्र-विचारतन्त्रता और अनुग्रह अस्वीकार करने के दम्भ की एक सीमा उभार कर रख देने में।

ऐसे ही देवरथ की ऐतिहासिक कहानी में उसके साधारण ऐतिहासिक कथा-विन्यास के ऊपर प्रसादजी की देन सुजाता के हृदय-निर्माण में है, जिसके द्वारा धर्म का निम्न धरातल ही खुल कर नहीं आता, मानव के मौन-प्रश्न पावन रूप में झाँकने लगते हैं, और हमारे समस्त सामाजिक संविधान की परीक्षा करने के लिए अग्रसर हो उठते हैं।

धरातल को इस ऊँचाई में ले जाने में लेखक का मानव-स्वभाव का सूक्ष्म अध्ययन और समस्यागत अनुभूति सहायक होते हैं। प्रसाद जी प्रधानतः मानव-सौन्दर्य की अनुभूति के कवि और लेखक हैं, उनकी रचना में अद्भुत्-आश्रित विस्मय (Wonder) से करुणा है। जिस सौन्दर्य को उन्होंने अपनाया है, वह मानवगत यथार्थ सौन्दर्य है। वे उस सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं फिर उसके अनुकूल इतिहास-पुराण आदि से, नही तो कल्पना से ही, सामग्री और कथानक जुटा लेते हैं। विस्मयकारी सौन्दर्य अगति देता है, मनुष्य अवाक् है और देख रहा है, या उसके गीत गा रहा है; एक उत्तेजक सौन्दर्य होता है, वह गीत को अपने में डुबा लेता है। करुणा केन्द्रित सौन्दर्य मानव को चैतन्य कर देता है, और प्रगति के लिये ललकारता है। इसी करुणा को ललकार 'प्रसादजी' की प्रत्येक कहानी में मिलती है। कथानक के सूत्र बढ़ते और उलझते-सुलझते वहीं विलीन हो जाते हैं जहाँ इस मानव-सौन्दर्य की झिलमिल उद्भुदित हो उठती है। सालवती चलती है, विनम्र दर्प से बड़े उत्थान के साथ मरीचिका में फँसती है और एली के यथार्थ सौन्दर्य की प्राप्ति उसे अभय में होती है। वहीं कहानी रुक जाती है और कहानी से अधिक यह अनुभूत सौन्दर्य हमें अभिभूत कर लेता है।

यह सौन्दर्य-दर्शन जैसे सत्य-दर्शन ही हों, इस दर्शन की परिभाषा नहीं हो सकती, गूँगे का गुड सा लगता है और प्रश्न ज्यों का त्यों नहीं, पहिले से भी प्रबल होकर हमारे सामने झूलने लगता है।

कहानीकार हमको उत्तर के पास ले जाकर छोड़ देता है। इस प्रकार कहानी में प्रश्न ही प्रश्न दिखाई पड़ता है। हल रखते हुए भी प्रश्न को प्रमुखता दे देने में ही प्रसादजी के टेकनीक की विशेषता है।

फलतः प्रसादजी की कहानी की टेकनीक का सबसे प्रधान लक्षण यह है कि उसमें बीज और विकास की अवस्था में नहीं, कहानी में जैसे एक विन्दु विशद होकर उपस्थित हो गया है, और वह विशद रूप अपने में सौन्दर्य लिए उस विन्दु से ही पूछता है 'ओ तू! मुझे आइना बना कर अपना रूप देख।' सालवती में स्वर्ण की चाह, अनुग्रह से वचना, स्वतन्त्र-विचार-तन्त्र की आस्था विशद होकर दैन्यात्व और जनपदीय दुर्बलता और भीषणता में प्रतिपादित हो उठता है, और यह विशद-दर्शन उस विन्दु से पूछता है—'बोल अब तेरा क्या ?' वह विन्दु जब नितान्त क्षुब्ध होकर मानव-करुणा का शुद्ध पात्र वन जाता है, तभी पटाक्षेप। ऐसे स्थान पर विराम हो जाने से हृदय का तन्त्र एक दम झनकार उठता है, अथवा हूक उठता है। तभी प्रेमचन्दजी ने कहा था कि प्रसादजी की कहानियों का अन्त,

> 'अपने ढङ्ग का निराला होता है—बड़ा ही भावपूर्ण, ध्वन्यात्मक और सहसा पाठक का मन झकझोर उठता है, " वह एक समस्या को पुनः सुलझाने लगता है।'

कहानी के इस तन्त्र (Technique) के साथ प्रसादजी ने एक और विशेषता रखी है। वह विशेषता ध्वन्यात्मक शैली का ही एक पूर्ण विकसित रूप है। कहानी के आरम्भ से ही कहीं यह लगने लगता है कि कहानीकार इन पात्रों को अपने भावों की भाषा वनाकर जो कह रहा है वह तो निमित्त मात्र है, वह जो कहना चाहता है वह तो कुछ और ही है—तब कहानी रूपक-सी हो जाती है। 'आकाशदीप' में यह रूपक (Allegory) बहुत ही पूर्णता के साथ है। वहाँ इन्द्रियाँ दस्यु हैं, मन और बुद्धि बन्दी हो रहे हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण कहानी आध्यात्मिक मनोविज्ञान की व्याख्या कर देती है। इस ध्वन्यात्मक अर्थ को कहानीकार ने इतनी सफलता से कहानी में समाप्त किया है कि साधारणतः यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि 'आकाश-दीप' रूपक है। हम तो कहानी को समझते हैं और उसका मूर्तरूप ही में यथार्थ विदित होता है।

इन सब तत्त्वों के कारण जहाँ यह सत्य है कि कहानी कहानी की भाँति ही हमारे समक्ष आती है, वहाँ यह भी सच है कि एक गूँज-सी और एक हूक सी बड़ी प्रबलता से हमें स्पन्दित कर देती हैं' कहानी अन्तिम स्थिति में पहुँचकर जैसे किसी रहस्य में परिणति पा लेती है। इससे एक रहस्यवादी प्रत्यय कहानी मे लग जाता है। यह प्रत्यय ही बहुतों को भ्रम में डाल देता है और प्रसादजी के यथार्थ लोक को अलौकिकता का आवरण पहना देता है।

प्रसादजी की कहानी का पृष्ठपट बहुत विस्तृत होता है—समय की दृष्टि से भी और कर्तृत्व की दृष्टि से भी। सालवती में उदाहरणार्थ पूरा एक युग का युग समा गया है, धवल यश, उनका स्वर्ण प्रेम, उनका कुल-अभिमान, उनकी मृत्यु, सालवती और कुलपुत्रों की भेंट, वसन्तोत्सव, जनपद की व्यवस्था, जनपद कल्याणी का निर्वाचन-युद्ध, सालवती के पुत्रोत्पत्ति, अभय का युद्ध-अभिमान, विजय और वैशाली लौटना, मार्ग में शिशु मिलना, आठ वर्ष व्यतीत हो जाना, फिर जनपद कल्याणी के निर्वाचन का अवसर, सालवती का कुछ निश्चय—शस्त्रागार में जनपद कल्याणी के चले जाने का विरोध, सालवती को अभय का स्वीकार करना—इतना सब कुछ उपन्यास जैसा वास्तव्य इस कहानो में है। यही नही विविध दार्शनिक वार्त्तायें और विषाद भी इस छोटी कहानी में समाये हुए हैं। पात्रों की भी कम भीड़ नही। यद्यपि इतनी भीड़ कुछ अन्य कहानियों में नही भी है जैसे 'मधुआ' में पर कहानी का पृष्ठपट छोटा करते-करते बड़ा हो गया है। कथा-सूत्र में बीज-विकास फलागम की भारतीय नाटक प्रणाली का अनुमोदन भी हुआ लगता है। सालवती में ही जैसे पहले अभय का सालवती को उपहार देना बीज होगा। अभय और सालवती का विविध सङ्घर्षों में होकर चलना विकास और अन्त में सालवती का अभय को ग्रहण करना फलागम। सालवती तो एक उदाहरण है। उनकी कहानियों में यह तन्त्र ढूँढ़ने से विद्यमान ही मिलेगा। इसके साथ सङ्घर्ष भी शून्य नही। वह अन्तर-अन्तर में अत्यन्त प्रबल रहता है—किसी भी कहानी को क्यों न लिया जाय। 'देवरथ' को देखिए। आर्यमित्र और सुजाता तथा संघस्थविर के घोर अन्तःसंघर्ष पर ही कहानी टिकी हुई है। सालवती में भी अभय और सालवती का

अन्यत्र उनकी भाषा का यह रूप है—

'सन्ध्या आ गई। नक्षत्र ऊँचे आकाश-गिरि पर चढ़ने लगे। आलिङ्गन के लिए उठी हुई बाहें गिर गईं। इस दृश्य जगत के उस पार से, विश्व के गम्भीर अन्तस्तल से एक करुण और मधुर अन्तर्नाद गूँज उठा।' —चित्र मन्दिर।

प्रसादजी प्राकृतिक दृश्यों के बड़े प्रेमी थे। उनकी कुछ कहानियों का प्रारम्भ, विकास तथा अन्त आदि सभी कुछ पूर्ण रूप से प्रकृति की गोद में ही होता है, यथा—'हिमालय का पथिक', 'चित्र-मन्दिर' तथा 'चित्र वाले पत्थर' आदि। वन्य-प्रकृति की ओर उनका प्रेम उमड़ा है। यह प्रकृति-चित्रण सर्वथा रस से सराबोर है—

'वनस्थली के रङ्गीन संसार में अरुण किरणों ने इठलाते हुए पदार्पण किया और वे चमक उठी, देखा तो कोमल किसलय और कुसुमों की पखुरियाँ, वसन्ती-पवन के घरों के समान हिल रही थी। पीले पराग का अङ्गराग लगने से किरणें पीली पड गईं। वसन्त का प्रभात था।' —अपराधी

प्रसादजी रूप और यौवन के अद्वितीय चित्रकार थे। उनका स्वय का प्रारम्भिक जीवन विलास में बीता था, इसी से उनके साहित्य में रूप, यौवन और विलास का रङ्ग अत्यन्त गाढ़ा है। उनके प्राय' सभी पात्र युवा, भावुक और आकर्षक हैं। इसी से उनकी अधिकांश कहानियों का विषय प्रेम है और रूप तथा यौवन की झाँकी तो उनकी प्राय. सभी कहानियों में है। प्रेम कहानियों में तो इसकी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, किन्तु उनकी कुछ दु.ख और करुणा की कहानियों में भी रूप और यौवन का चित्र है जैसे—'घीसू' में विन्दो 'उसकी उजली धोती में गोराई फूटी पड़ती।'

मार्च ३७ की 'माधुरी' के कहानी अङ्क में एक लेख लिखा है—'हिन्दी के तीन कवि कहानी लेखक'। इसमें प्रसाद प्रमुख हैं। उनके विषय में कुछ विशेष बातें लेख में बतलाई गई हैं। लेखक को जो कुछ कहना था, उसने 'आँधी' के आधार पर कहा है। किन्तु जो कुछ 'आँधी' के लेखक प्रसाद पर कहा गया है वह 'आकाश दीप' और 'इन्द्रजाल' के प्रसाद पर भी समान रूप से ागू होता है। लेखक ने बतलाया है कि प्रसाद की नायिकाएँ युवती

है, सुन्दर हैं, और मृदुभाषिणी हैं। मैंने 'छाया' से लेकर 'इन्द्रजाल' तक निरीक्षण किया—वहाँ कोई बुढ़िया नही। 'छाया' में मृणालिनी का रूप देखिये—

'मृणालिनी' स्वामी की कन्या है। देव-बाला सी जान पड़ती है। बड़ी-बड़ी आँखें, उज्ज्वल कपोल, मनोहर अङ्ग, गुल्फ विलम्बित केश कलाप उसे और भी सुन्दरी बनाने में सहायता दे रहे हैं। अवस्था तेरह वर्ष की है, किन्तु वह बहुत गम्भीर है।'

—मदन मृणालिनी।

अब 'इन्द्रजाल' की बेला का रूप देखिये—

'बेला' साँवली थी। जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोक-पिंड का प्रकाश निरखने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था। गोली के स्नेह की मदिरा से उसकी कजरारी आँखें लाली से भरी रहतीं। वह चलती तो थिरकती हुई, बात करती तो हँसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती। —इन्द्रजाल।

रूप, यौवन और विलास की एक झाँकी और लीजिए—

'नूरी' काश्मीर की कली थी। सीकरी के महलों में उसके कोमल चरणों की नृत्य-कला प्रसिद्ध थी। उस कालिका का आमोद मकरन्द अपनी सीमा में मचल रहा था। उसने समझा मेरा कोई साहसी प्रेमी है, जो महाबली अकबर की आँख मिचौनी क्रीड़ा के समय पतङ्ग सा प्राण देने आया है। 'नूरी' ने इस कल्पना के सुख में अपने को धन्य समझा और चुप रहने का संकेत पाकर युवक के मधुर अधरों पर अपने अधर रख दिये। युवक भी आत्म-विस्मृत सा उस सुख में पल भर के लिए तल्लीन हो गया।' —नूरी।

किन्तु प्रसादजी केवल यौवन प्रेम तथा विलास के रङ्ग में ही नही डूबे थे, बल्कि उन्हें अपने समाज का पूर्ण ज्ञान था। समाज के विपन्न और दुःखी अङ्ग को भी उन्होंने देखा था और उससे उन्हें पूर्ण सहानुभूति भी थी। उनकी कुछ कहानियों में समाज के उस अङ्ग का चित्रण है। इन दुख दर्द की कहानियों का विषय है करुणा. और वास्तव में मानवता तथा करुणा की विजय ही तो उनके समूचे साहित्य का मूल मन्त्र है। वास्तव में उनका स्वयं का जीवन भी

फेनिल खील बिखराती है। चन्द्र, सूर्य और ऊषा सब प्रेम की पुकार करते हैं। ऊषा नागरी अम्बर पनघट में ताराघट डुबोती है और लतिका मधु मुकुल नवल रस भर लाती है।

उनके प्रियतम भी उनसे प्रकृति-द्वारा ही आँखमिचौनी का खेल खेलते हैं, देखिए—

निज अलकों के अन्धकार में
तुम कैसे छिप आओगे?
इतना सजग कुतूहल ठहरो,
यह न कभी बन पाओगे?
आह चूम लूँ जिन चरणों को
चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा
ऊषा-सी वह उधर बही!
वसुधा चरण-चिह्न सी बन कर
यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे
अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ इतनी ही तो इच्छा!
लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन उँगलियों से
ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ।

भगवान के अस्तित्व को मानते हुए वे इस बात की विवेचना नहीं करना चाहते हैं कि वे कैसे हैं किन्तु उनसे वे चिर-मिलन चाहते हैं। कबीर या दादू का नमक की पुतली का समुद्र में व्यक्तित्व खो देने वाला मिलन नहीं वरन जलधि और क्षितिज का-सा देखिए—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इसमें क्या है धरा सुनो।
मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित—
मेरे क्षितिज उदार बनो।

प्रसादजी प्राचीनता के उपासक और भारतीय संस्कृति के भक्त हैं। वे बुद्ध धर्म से भी बहुत प्रभावित हैं। 'लहर' में बौद्ध धर्म सम्बन्धी

दो बड़ी सुन्दर कविताएँ मिलती हैं।

'अरी वरुणा और शान्त कछार' से आरम्भ होने वाली कविता में बौद्ध धर्म का सार बड़े सुन्दर शब्दों में दिया है। देखिए—

छोड़कर जीवन के अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व मानवता का जय-घोष,
यहीं पर हुआ जलद-स्वर मन्द्र।
मिला था वह पावन आदेश,
आज भी साक्षी हैं रवि चन्द्र।

बुद्ध धर्म की विश्वमानवता, करुणा और दुःखवाद से वे जरूर प्रभावित हैं किन्तु वे उसके शून्यवाद को नहीं मानते। वे उसके शून्यवाद में उपनिषदों की 'नेति-नेति' की झलक देखते हैं।

"अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है व्यक्ति रूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।"

वे दुःखवाद और क्षणिकवाद दोनों ही मानते हैं किन्तु उतने पर ठहर नहीं जाते। वे क्षणिक के भीतर शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन करते हैं और विश्वात्मा की पुकार सुनते हैं। वे उसमें अपनी वीणा के स्वर को मिला देना चाहते हैं। इस परिवर्तनशील विश्व में वे एक अटल सत्ता का परिचय पाते हैं—

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ!

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान।

(कामायनी)

प्रसादजी दुःखवादी अवश्य हैं क्योंकि दुःख के अस्तित्व को आशावाद में भुला नहीं सकते किन्तु उनका दुःखवाद सुखवाद से विमुक्त नहीं है। संसार में दुख-सुख दोनों का ही अस्तित्व है। यद्यपि सुख क्षणिक है तथापि वह इसलिए उपेक्षणीय नहीं है—

"अन्धकार का जलधि लाँघकर
आवेंगी शशि किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
दे देने दो इनको॥"

× × × ×

मानव-जीवन वेदी पर,
परिणय है विरह मिलन का।
दुख-सुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का मन का।

वास्तव में सुख-दुख महत्त्व का खेल है यदि मनुष्य अहंकार-भाव को मिटा दे तो उसके लिए न दुख रहता है और न सुख।

हो उदासीन दोनों से
दुख-सुख से मेल करायें,
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनायें। (आँसू)

यही गीत का भी उपदेश है। वास्तव में मनुष्य अहंकार को छोड़ दे तो सुख-दुख न रहे। संसार में सुख-दुख का मेल है। इसलिए सुख में दुख को भूलना नहीं चाहिए।

प्रसादजी का दुखवाद अतृप्त वासना का दुख नहीं है। सुख की अतिशयता स्वय दुख में परिणत हो जाती है। मिलन में विच्छेद लगा रहता है। जीवन में मृत्यु की छाया का मिश्रण रहता है, इसलिए एक के हर्षोल्लास में दूसरे को न भूलना चाहिये। प्रेम में कुछ मिलना होता ही नहीं है। प्रेम के अभाव को सारा संसार पुकार रहा है किन्तु प्रसादजी कहते हैं कि उसका पाना नहीं होता उसमें देना ही होता है। जब उसकी स्थिति ही ऐसी है तब उसमें निराशा या असन्तोष के लिये कहाँ गुञ्जायश है।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको खो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिन कर
यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार!
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

प्रसादजी ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी नहीं हैं। उनकी कविता में पूर्ण आस्तिकवाद की झलक है। इतना ही नहीं वे राम कृष्ण आदि के लिए भी बड़े श्रद्धा के भाव रखते हैं। कङ्काल में वर्णित भारतसङ्घ के सम्बन्ध में कहे हुए स्वामी कृष्णशरण के वचनों में उनके धार्मिक विचारों की कुछ झलक मिल सकती है। उन विचारों में धर्म के ढोंग और आडम्बर के लिए स्थान नहीं। वास्तव में मानवता ही उनका धर्म मालूम पड़ता है। राम, कृष्ण भी उसी मानवता की मूर्ति होने के कारण उपास्य बने थे। प्रसादजी अपनी कविताओं में तो कुछ द्वैतवाद की ओर झुके मालूम होते हैं, किन्तु नाटकों में अद्वैतवाद की झलक मिलती है—

हम सब में जो खेल कर रहा प्रति सुन्दर परछाईं सा
आप छिप गया आकर हम में फिर हमको आकार दिया।
पूर्णानुभव करता है जो 'अहमित से नित सत्ता का',
'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का प्रणयमय गुञ्जार किया।

प्रसादजी यह मानते हुए मालूम पड़ते हैं कि जो कुछ होता है ठीक होता है। यह बात जनमेजय के नाग-यज्ञ में दिखलाई पड़ती है। जनमेजय के नाग यज्ञ में वेदव्यासजी को नियतिवादी दिखलाकर प्रसादजी ने इस ओर अपना झुकाव दिखलाया है। यह नही कहा जा सकता कि स्वय उनके विचार क्या हैं ?

उनके धर्म में कर्मकाण्ड को एक गौण स्थान मिलता है। कामायनी में कर्म को श्याम चित्रित किया है। कर्म में वे हत्याकाण्ड के तो घोर विरोधी हैं। बलिदान के विरुद्ध उनके विचार स्थान स्थान पर निकल पड़ते हैं। करुणालय में नरबलि के विरुद्ध बड़ी जोर की आवाज उठाई गई है। स्कन्दगुप्त में भी बलिदान का घोर-विरोध किया गया है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में यज्ञों का युग समाप्त किया गया है। कामायनी में भी श्रद्धा और मनु का बलिदान के ऊपर ही मन मैला हुआ। इडा भी जन-सहार के सम्बन्ध मे क्या सुन्दर उपदेश देती है।

"क्यों इतना आतङ्क ठहर जा ओ गर्वीले
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले"

"Live and let live" इस उपदेश को यदि रूस और अमेरिका वाले अपने हृदय में धारण कर सकें तो संसार का कितना कल्याण हो।

प्रसादजी के सामाजिक विचार बड़े उदार मालूम होते हैं। वर्ण-व्यवस्था को वे मानते हैं किन्तु वे उसको दूसरों पर अत्याचार करने का साधन नही बनाना चाहते। वे स्वामी कृष्णशरण के मुख से कहलाते हैं।

"वर्ण भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुण कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर अभिजात्य के अभिमान में परिणत होगई।"

स्त्रियों के अधिकारों के ये पूर्ण पक्षपाती हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' में आप पूर्ण विश्वास रखते मालूम पड़ते हैं। ध्रुवस्वामिनी में नारी तत्त्व का बड़ा ओजपूर्ण प्रतिपादन मिलता

है। स्त्रियाँ पुरुष की सम्पत्ति नहीं हैं। वे दाम्पत्य सम्बन्ध को सहज में ठुकरा देने की वस्तु नहीं मानते। किन्तु यदि पुरुष अपने उत्तर-दायित्व को भूल जायँ, माँगी हुई शरण न दें, स्वेच्छाचार करें तो आपत्ति काल में स्त्रियाँ ध्रुवस्वामिनी की भाँति अपना पथ निश्चित कर सकती हैं। इसी के साथ-साथ वे स्वतन्त्र प्रेम के भी पक्षपाती नहीं मालूम पड़ते। एक घूँट में स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक आनन्दी प्रेमलता के हाथ से शरबत का एक घूँट पीकर विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं।

प्रसादजी पारिवारिक जीवन में सबसे हिल-मिल कर रहने और सम्मिलित परिवार के पोषक प्रतीत होते हैं। वे सुखी परिवार का आदर्श अजातशत्रु में किन सुन्दर शब्दों में वासवी के मुख से कहलाते हैं—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मङ्गल उनके जीवन में।
बन्धुवर्ग हो सम्मानित, हो सेवक सुखी प्रणत अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन तो स्पृहणीय न हो क्यों घर॥

प्रसादजी के राजनीतिक विचार बड़े उदार हैं। वे गांधीजी की भाँति राजनीति को धर्मनीति के आधीन रखना चाहते हैं। उनमें सन्तोष की मात्रा अधिक है। 'जियो और जीने दो' के मानने वाले मालूम होते हैं, किन्तु मानमर्यादा के साथ। मानहीन जीवन से मरना ही भला समझते हैं। वे मर जाने को तो अच्छा समझते हैं किन्तु संहार के विरोधी हैं।

महाराज अशोक की चिन्ता में इस बात को उन्होंने भली प्रकार बतलाया है—

दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर, क्यों गूँज रही है अस्थिर,
कर विजयी का अभिमान भङ्ग, यह महादम्भ का दानव
पीकर अनङ्ग का आसव—कर चुका महा भीषण रव
सुख दे प्राणी को मानव, तज विजय पराजय का कुढङ्ग।

वे उस महत्त्वाकांक्षा के पक्षपाती नहीं जिसमें संहार हो। वे राजाओं के अबाधित अधिकार के भी हिमायती नहीं। इड़ा कहती है—

आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा?

× × ×

लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया मे
ताल-ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।

कामना के भरत वाक्य में उन्होंने बतलाया है कि राजा को प्रजा से मिलकर रहना चाहिए।

प्रसादजी की रचनाओं में स्थल-स्थल पर सुन्दर विचार भरे पडे हैं। वे आज कल के यन्त्रवाद के भी विरुद्ध मालूम होते हैं—

प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

जीवन के लिए वे इच्छा, क्रिया और ज्ञान का समन्वय चाहते हैं जिससे श्रद्धा के साथ मन रह सके—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

———

'प्रसाद के काव्य में समरसता'



जिन लोगों को 'प्रसाद' जी के साथ कुछ क्षण भी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनका कथन है कि प्रसादजी का व्यक्तित्व उनकी स्मित-रेखाओं में प्रस्फुटित हो उठता था। वे प्रकृति से अत्यन्त, गम्भीर, शान्त, मितभाषी और सङ्कोचशील थे। कभी-कभी उनके मिलने वालों को आश्चर्य होता था कि 'आँसू' की भावनाओं के गरल को पीकर भी इस कवि में पीड़ा की ऐंठन का कोई अवशेष न था। हमें यह भी ज्ञात है कि 'प्रसाद' जी का जीवन विषमताओं से रहित न था। किन्तु उलझनों के सिन्धु में तिरते रहते भी एक अद्भुत क्षमता उनमें थी। जीवन की अधिक से अधिक अनुभूति रहते हुए भी वे निर्लिप्त से जान पड़ते थे। उनकी अनुरक्ति में भी एक अद्वितीय दार्शनिक तटस्थता थी। वे रह रह कर मुस्करा जाते थे, किन्तु उनकी मुस्कराहट अवसाद के परमाणुओं से बिलकुल अछूती न थी। उनके व्यक्तित्व में एक रहस्यपूर्ण सन्तुलन था और इस सन्तुलन के लिए उन्हे काफी साधनाएँ करनी पड़ी। अपने हृदय की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए जीवन भर उन्हें अनुसन्धान करते रहना पड़ा। यह अनुसन्धान आध्यात्मिक था और इसमें सफलता प्राप्त करने के पूर्व कवि को अनेक स्थलों पर मानसिक संघर्षों का सामना करना पड़ा और सुख दुख, प्रेम विरह के आरोह-अवरोह के मध्य उन्हे एक समतल भूमि मिली थी। इन विभिन्न परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों और स्थितियों के सामञ्जस्य को उन्होंने समरसता की संज्ञा दी।

यहाँ हम संक्षेप में 'प्रसाद' जी के काव्य में उन कड़ियों के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालेंगे जिन्होंने अन्ततोगत्वा उनके दार्शनिक दृष्टिकोण में समरसता को इतना प्रमुख स्थान दिया।

'प्रसाद' जी के सर्वप्रथम काव्य 'चित्राधार' में छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, वह है जिज्ञासा। कवि प्रकृति को देखता है। उसके हृदय में एक गुदगुदी सी पैदा होती है। प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं मे एक धुँधला आभास मिलता है किसी ऐसी चेतना का जो इन विभिन्न आकारों में एक सूत्र सी दौडती जान पडती है। फिर भी उसके हृदय में जिज्ञासाओं की भीड़ है और इनके साथ वह 'प्रेम-पथिक' की भूमि में प्रवेश करता है। अन्तर इतना है कि यह जिज्ञासा यहाँ पर अत्यन्त माननीय है। उसका प्रेम स्वभावत व्यक्तिगत सीमाओं को पार कर किसी व्यापक सत्ता से मिलने के लिए विकल प्रतीत होता है। वहाँ उसे अनन्त प्रेम के दर्शन होते हैं। प्रकृति और मानव दोनों के सुख-दु ख की व्यक्तिगत इकाइयों में उसे अपूर्णता का आभास होता है।

'झरना' में कवि की जिज्ञासा और भी तीव्र स्वरूप धारण कर आती है। जीवन का सूनापन, उसका विषाद अभी तक वह दूर नही कर पाया है। उसके जीवन में एक नवीन प्रभात आकर छिप चुका है। उसने बुद्धि के सहारे अपने जीवन का लक्ष्य तो पहचान लिया है, किन्तु उसकी भावनाओं का प्रभाव सुदूर कल्पना के शिखर को स्पर्श नही कर पाता। लक्ष्य और वास्तविक स्थिति में इस व्यवधान के कारण उसके जीवन में विश्राम नही। विश्रान्त होकर भी वह उस अन्तिम लक्ष्य का चिन्तन किया करता है—

'बढ उमङ्ग सरिता आएगी आर्द्र किए रूखी सिकता।
सकल कामना स्रोत मीन हो पूर्ण विरति कब पावेगा ?'

और इसी प्रतीक्षा में—

गा रहा हूँ बस दुख का राग
मिल गया विराग में अनुराग
न वीणा ही रही वशी कहाँ है ?
हृदय हुआ है मेरा एकतारा।'

'झरना' में अमा अभी राका नही बन पाई है। अभाव की इस भावना की सबसे उत्कृष्ट और तीव्रतम अभिव्यक्ति 'आँसू' काव्य में हुई है। मैं यहाँ इस विवाद में नही पड़ना चाहता कि 'आँसू' केवल मानव विरह से सम्बद्ध है या इसकी उद्भावना-भूमि आध्यात्मिक है।

पर इतना अवश्य कहूँगा कि 'प्रसाद' जी के व्यक्तित्व का विकास सदा ही इन दोनों के सामञ्जस्य से हुआ है। अतएव 'आँसू' में आध्यात्मिक और शारीरिक या लौकिक चेतना का सम्मिश्रण है। किन्तु हमें तो अपने ध्यान को विशेषत 'आँसू' के इस पक्ष पर केन्द्रित करना है कि 'प्रसाद जी की समरसता की दार्शनिक भूमि के निर्माण में इसका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें हम प्रेम और विरह का समझौता देखते है और कवि, विरह-जन्य वेदना को भी एक वरदान के रूप मे ग्रहण करता है। विरह उसके प्रेम की मांसलता को एक अत्यन्त भावनापूर्ण हृदय देता है। उसकी ज्वाला कल्याण की पात्री है। अपनी ज्वाला को सम्बोधित कर कवि कहता है—

'निर्मम जगती को तेरा,
मगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला।'

यहाँ मिलन और विरह, आसक्ति और विरक्ति दोनों एक दूसरे के आलिङ्गन मे आकर एक हो गए हैं।

यहाँ 'आँसू' और कामायनी के बीच भी एक सुन्दर शृङ्खला है। 'लहर' और कामायनी की मानसिक भूमि मे उतना अन्तर नही जितना दोनों की कला और दृष्टिकोण में। यहाँ उनकी कला के विवेचन से हमारा सम्बन्ध नही। दृष्टिकोण सम्बन्धी भेद यह है कि व्यापक जीवन-दृष्टि हमें 'लहर' में नहीं मिलती। कामायनी ने तो हमारे जीवन के आध्यात्मिक से लेकर अत्यन्त भौतिक पक्षों को भी समरसता के भाव से रञ्जित कर दिया है। 'लहर' मे हम प्रेम और विरह से आगे बढ़ कर मानव जीवन के अनेक पक्षो जैसे आशा और निराशा, राग और विरक्ति इत्यादि की ओर भी कवि का इङ्गित पाते हैं। मानव-जीवन की उद्भावना कवि इस प्रकार करता है—

"वसुधा के अञ्चल पर,
यह क्या कन कन सा गया बिखर।
जल-शिशु की चञ्चल क्रीड़ा सा
जैसे सरसिज दल पर,
लालसा निराशा से दल मल
वेदना और सुख में विह्वल

यह क्या है रे ! मानव-जीवन !
कितना है रहा निखर !"

इसीलिए वह अपनी मानसिक शक्तियों को जीवन में सामञ्जस्य-जन्य सुन्दरता के प्रतिपादन के लिए प्रेरित करता है—

'ओ री! मानस की गहराई!
× × ×
तेरा विषाद द्रुम तरल-तरल
मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल,
सुख लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल,
तू हँस जीवन की 'सुघराई।'

'कामायनी' इसी संकेत को हमारे सामने खोल कर रख देती है और इसके लिए एक विस्तृत जीवन-पीठिका की योजना भी करती है। कथा का उद्गम जीवन की समरसता के अभाव और उसका अवसान समरसता के निर्माण में है। देव सृष्टि का नाश इसलिए होता है कि उन्होंने 'अहं' की निरकुश साधना में सुख की सीमाओं का उल्लङ्घन कर दिया। मनु जब निराशा से आक्रान्त है उस समय नवीन सृष्टि का सन्देश देते हुए श्रद्धा मनु से इस प्रकार कहती है—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्,
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण-जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
निखरते सुखमणि गण द्युतिमान्।

मनु और श्रद्धा का विछोह भी मनु के हृदय में एकाङ्गी वासना के कारण होता है। वे श्रद्धा के प्रति अपने प्रेम को वासनापूर्ण एकाधिकार में परिणत करना चाहते हैं—

"यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार!

केवल मेरी ही चिन्ता का
तब चित्त वहन कर रहे भार।"

मनु और इडा का संयोग, जो बुद्धि का प्रतीक है, श्रद्धा और मनु के व्यवधान को और भी बढ़ा देता है। तभी से सारस्वत प्रदेश में बुद्धिवाद के निरन्तर विकास के साथ-साथ दु.ख की नीव और भी दृढ़ होती जाती है। इस भौतिकवाद की एकान्त उपासना में भी उपद्रव खड़े होते हैं। सारस्वत प्रदेश ने इड़ा और मनु के नेतृत्व में प्रकृति के साथ सङ्घर्ष कर वर्णों की सृष्टि की है, श्रम का विभाजन किया है, शस्त्रों और यन्त्रों का आविष्कार किया है। किन्तु यहाँ जब मनु इडा पर भी 'निर्वाचित अधिकार' चाहते हैं तो सारा प्रजातन्त्र विद्रोह कर उठता है और अपने नायक पर आक्रमण करता है। इड़ा ने मनु को समझाया कि मनुष्य का जीवन सङ्घर्षमय है और सङ्घर्षों में उसका विकास है। किन्तु श्रद्धा फिर मनु से मिलकर उन्हें ठीक राह पर लाती है और जीवन मे समरसता की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए सङ्घर्ष का खण्डन करती और इड़ा को उसकी भूल बतलाती है—

"जीवन-धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह,
ओ तर्कमयी! तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर,
तू रुक-रुक देखे आठ पहर,
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर,
सुख-दुख की मधुमय धूप-छाँह,
तूने छोड़ी यह सरल राह।"

इसी समरसता के आधार पर जीवन को ले चलाने का सकेत हमें उस समय मिलता है जब श्रद्धा मनु और अपने प्रेम के फल—श्रद्धामय और मननशील मानव को इड़ा के साथ छोड़ जाती है।

इस समरसता का पूर्ण प्रतिपादन श्रद्धा मनु को कैलाश से 'इच्छा'; 'ज्ञान' और 'कर्म' के अरुण, उज्ज्वल और श्यामल आलोक-गोलकों को दिखला तथा उनकी एकांगिता-जन्य अपूर्णता की ओर संकेत करती है। 'इच्छा' का लोक जीवन की मध्य-भूमि है, जिसमें सुख और दुःख दोनों हैं। 'ज्ञान' लोक में सुख और दु.ख दोनों के

प्रति उदासीनता है। 'कर्म' का लोक सङ्घर्ष का लोक है, जहाँ सुख दुःख में परिणत हो जाता है, जहाँ स्थूलता के सामने भाव का कोई मूल्य नहीं। ये तीन लोक पृथक-पृथक है, जिसके फलस्वरूप—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों हो पूरी मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

और इन्ही तीन लोकों को श्रद्धा अपने स्मित से एक कर देती है। वही सर्वोपरि आनन्द की स्थिति है और ऐसे लोक में—

"शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।"

सक्षेप में 'प्रसाद' के काव्य में समरसता के क्रमिक-विकास की रूपरेखा यहाँ अङ्कित की गई है। समरसता उनकी विचार-धारा की प्रधान दिशा है। यह केवल व्यवहार कुशलता नही, वरन् इनका निर्माण हमारी अनुभूति के सारे अवयवों को लेकर हुआ है। यह माना जा सकता है कि इस समरसता का एक व्यवहारिक रूप भी है, किन्तु व्यावहारिकता की, उनके दर्शन की अन्तिम परिभाषा नही। साथ ही वह योगियों का निर्वेद भी नही। 'प्रसादजी' की सहृदयता को देख कर कोई यह कहने का साहस नही कर सकता कि उनका दर्शन वैराग्य का दर्शन है। उनका आनन्द तटस्थता जन्य नही, उनका सङ्गीत तो हमारी चेतना के गह्वरों में बहते अनेक निर्झरों का सम्मिलित सङ्गीत है। उनकी समरसता में उदासीनता का सन्देश नही; उसका सन्देश तो है जीवन के विविध रसों का आस्वादन करते हुए भी अपने को निर्लिप्त रखना। कोरा 'सन्यास' जीवन के लिए घातक है और ईश्वर की सृष्टि का अपमान है। इससे व्यक्तित्व के कुण्ठित होने की आशङ्का रहती है, यह मानव चेतना की पुकारों का गला घोंटना है। व्यक्तित्व की एक-एक पूर्ण इकाई में एक-एक विश्व सन्निहित रहता है। 'प्रसाद' जी के शब्दों में—

"यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित।"

चेतना की बहुमुखी सजगता का अभाव जीवन की अपूर्णता है और अतिक्रमण जीवन का अभिशाप। यही 'प्रसादजी' का व्यापक दृष्टि का रहस्य है। एकागिता की अपूर्णता का परिचय देकर हमारे आधुनिक भौतिकवाद को चेतावनी देते तथा हमारी चेतना के लिए एक नवीन आधार भूमि की योजना करते हैं। वे जीवन को उत्कर्ष आनन्द की प्राप्ति मानते हैं। और समरसता को उस आनन्द का उद्गम स्रोत बतलाते हैं। उनके अनुसार जीवन में सुख-दुःख, प्रेम-विरह इत्यादि के निरपेक्ष भाव हम में समरसता के अभाव के कारण हैं। 'कामायनी' की यही मूक भावना श्रद्धा के स्वप्न के उस प्रश्न का—

जीवन में सुख अधिक या कि दुख,
मन्दाकिनी कुछ बोलोगी।
नभ में नखत अधिक सागर में,
या बुद-बुद हैं गिन दोगी?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुझ में,
सिन्धु मिलन को जाती हो।
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के,
इस रहस्य को खोलोगी।

—उत्तर है। जीवन के स्पन्दन, स्पन्दन है। उन पर सुख-दुःख का आरोप हमारी अविकसित चेतना की अपूर्णता का चिह्न है। यदि हमने अपने व्यक्तित्व को विश्व की विशालता दे दी तो प्रत्येक स्पन्दन आनन्द का स्पन्दन है—हम नहीं कह सकते सुख का या दुःख का। 'प्रसाद' जी इसको दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखते हैं—हमारी आवश्यकता है अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय। यही आनन्द लेख है और यही जीवन की शाश्वत् स्थिति है।

———

प्रसादजी का प्रकृति-वर्णन

मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी।
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी॥ —प्रसाद

कविता, संसार के प्रति हमारी भावमयी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है। उसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध, जिसमें आकर्षण और विकर्षण दोनों ही शामिल हैं, स्थापित होता है। कवि मानव तथा मानवेतर सृष्टि के, जिसमें जल, थल, आकाश के सभी दृश्य तथा उनमें विचरने वाले जीव-जन्तु शामिल हैं, सम्पर्क में आता है और अपनी समवेदन-शीलता के अनुकूल उनको अपनी भावना का विषय बनाता है। वैज्ञानिक का भी सृष्टि के साथ सम्बन्ध रहता है किन्तु वह रागात्मक नही होता। उसके लिए सुन्दर-असुन्दर और प्रिय-अप्रिय कोई अर्थ नही रखते।

साहित्य में दोनों प्रकार की सृष्टियों का वर्णन हुआ है किन्तु मानव-सृष्टि का अधिक। इसका कारण है, रागात्मक सम्बन्ध के लिए प्रतिस्पन्दन की आवश्यकता नही है, किन्तु उसके होने से सम्बन्ध में दृढ़ता आ जाती है। मानव सृष्टि में भावों के प्रतिफलन की जितनी सम्भावना रहती है उतनी मानवेतर सृष्टि में नही, यद्यपि उसका क्षेत्र कही अधिक विस्तृत है। कवि स्वय मनुष्य होने के नाते मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-लहरियों का सुविधापूर्वक अनुमान कर सकता है। मनुष्य की मुखाकृति भाव-भङ्गियाँ और वे सब शारीरिक दशाएँ और चेष्टाएँ जो अनुभावों के अन्तर्गत मानी जाती हैं इस प्रकार के अनुमान की साधिका बनती हैं। इनके अतिरिक्त भाषा तो आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की सहज माध्यम है ही। जानवरों में, कम से कम उनमें जो विकास-क्रम में ऊँचा स्थान पाते हैं, हमारी सी भाषा का अभाव होते हुए भी प्राय. हमारे से ही भावों के सूचक अनुभाव होते हैं।

उनके द्वारा जानवरों के मनोगत भावों का कुछ अन्दाज लग जाता है और किसी न किसी रूप में उनमे चेतना का भी अस्तित्व मिलता है। उनसे हमको अपने भावों के प्रति स्पन्दन की आशा रहती है। वे रागात्मक सम्बन्ध की अधिक क्षमता रखते हैं किन्तु उसका साहित्य में अधिक लाभ नहीं उठाया गया है। वे अन्योक्तियों का विषय बनाये गये हैं और कहीं-कही उनके भावों का भी वर्णन हुआ है—जैसे सूर ने श्रीकृष्णजी की गौओं का और तुलसी ने रामजी के घोड़ों का विरह-वर्णन किया है।

मानव शरीर के उपमानों के रूप में जानवरों के सौन्दर्य का भी वर्णन हो गया है—जैसे मृगशावकाक्षी, गजगामिनी। अब प्रश्न यह है कि जड़ प्रकृति के साथ हमारा किस अर्थ और किस अंश में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? प्रकृति के सौम्य और विकराल दोनों ही रूप देखने में आते हैं। वह हमको हँसती-रोती उद्वेलित और उल्लसित होती हुई प्रतीत होती हो किन्तु हम उतने निश्चय के साथ नहीं कह सकते हैं कि उसके हासोल्लास और गर्जन-तर्जन के पीछे कोई चैतन्य या भावमय आधार है या नहीं? जानवरों के सम्बन्ध में मानवी भावों का अनुमान ही किया जाता है किन्तु जड़ प्रकृति मे उनका आरोप सा करना पडता है। कभी-कभी यह आरोप इतना सच्चा और सजीव होता है कि भावुक हृदय का प्रकृति के साथ भावों का आदान-प्रदान होता सा मालूम पडता है।

प्रकृति में भावमयी चेतना चाहे हो या न हो किन्तु उसमें हमारे भावों को जाग्रत और उद्दीप्त करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। रही, प्रतिस्पन्दन की बात, वह तो कभी-कभी मानव सृष्टि में भी नहीं होता दिखाई देता। बहुत से लोग अपने स्रष्टा की भाँति ही प्रतिस्पन्दन शून्य होते हैं फिर विचारी जड़ प्रकृति से क्या आशा की जा सकती है? हमारे भावों का प्रकृति पर कोई असर पड़ता है या नहीं इस बात को सर जगदीशचन्द्र बसु भी प्रमाणित नहीं कर सके, किन्तु हमारे मनोभावों के कारण प्राकृतिक दृश्यों के अनुभव में अवश्य अन्तर पड़ जाता है और वे भी हमारे भावों की गति-विधि में थोड़ा अन्तर डाल देते हैं। प्रकृति हमारी धातु है। उसके जलवायु से हमारा शरीर पुष्ट हुआ है, उससे हम भाग नहीं सकते हैं। मौन रहते हुए भी वह हमको सहचर

सुख देती है। हमारे सम्पर्क में आने से जड़ पदार्थ भी हमारे मोह और आसक्ति का विषय बन जाते हैं। जो लोग प्रकृति में विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानते हैं उनके लिए प्रकृति को चेतन मानने में कुछ कठिनाई नहीं होती, किन्तु उसको व्यक्तित्व प्रदान कर उसके मानवी-करण में कल्पना को जाग्रत करना पड़ता है; शायद उतना ही जितना कि नाटकों में नट को दुष्यन्त मान लेने में। रूपकों में जितना आरोप द्वारा हमको आनन्द मिलता है उतना हमको प्रकृति के मानवीकरण से भी प्राप्त हो सकता है। वर्णन में सजीवता चाहिए और पाठक में ग्राहक हृदय। वस्तु में भावारोप के लिए जितनी क्षमता चाहिए उतनी प्रकृति में मिल जाती है। हम यदि सच्चे मानव हैं तो मानवता के विस्तार से हमको आनन्द ही मिलेगा। अपने गोत्र को बढ़ते हुए देखकर किसे आनन्द नहीं मिलता ? कुछ अंग्रेजी आलोचकों ने प्रकृति को अपने साथ रुलाने हँसाने को संवेदना का तर्काभास (Pathatic Fallacy) कह कर उसे वर्ज्य सा ठहराया है। जायसी आदि ने प्रकृति की मानव के साथ सहानुभूति दिखाई है किन्तु जहाँ उत्प्रेक्षा लगाई जाती है वहाँ ऐसा वर्णन दूषित नहीं रहता।

प्रसादजी आस्तिक कवि थे। वे परमात्मा को प्रकृति में व्याप्त देखते थे। विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण प्रकृति उनके लिए विशेष अनुराग का विषय बन जाती है। आस्तिकता का आधार पाकर इनकी प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्योपासना कुछ गहरी हो गई थी किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि प्रसादजी का प्रकृति-प्रेम कहाँ तक स्वय उसके लिए नहीं है। परमात्मा की चेतनता से व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार मानव प्रेम का महत्त्व नहीं घटता उसी प्रकार प्रकृति का भी नहीं।

प्रकृति को आलम्बन रूप से देखने के लिये शान्त हृदय चाहिए। आजकल की सभ्यता में हम प्रतिद्वन्द्विता और रोटी के राग में इतने फँसे रहते हैं कि हमको प्राकृतिक सौन्दर्य के निरीक्षण का अव-काश ही नहीं मिलता। सौन्दर्यानुभूति के लिये भावुक हृदय चाहिए, उसके बिना न मानव सौन्दर्य है और न प्राकृतिक। वास्तव में प्रकृति और पुरुष, दृश्य और द्रष्टा तथा सौन्दर्य और उसके अनुभव-कर्त्ता में एक प्रकार का आदान-प्रदान रहता है। सुन्दर वस्तु में भी हृदय की जड़ता को दूर करने की शक्ति रहती है और जैसे-जैसे हृदय की जड़ता

दूर होती जाती है वैसे ही सौन्दर्यानुभूति बढ़ती है। यह दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रसादजी ने इस बात को पूर्णरूपेण हृदयङ्गम किया है। प्रकृति के हृदय को विकसित करने की स्वाभाविक शक्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

नील नीरद देखकर आकाश मे !
क्यों खड़ा चातक रहा किस आश मे ?
क्यों चकोरो को हुआ उल्लास है ?
क्या कलानिधि का अपूर्व विकास है ?

* * *

देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ।
प्राण भी आमोद से प्रमुदित हुआ।
रस हुआ रसना में उसको बोलकर।
स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर।

जब चातक श्याम घन को देखकर तथा चकोर कलानिधि राकेश को देखकर उल्लसित हो उठता है तब मनुष्य ही सौन्दर्योपासना से क्यों वञ्चित रहे। प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन मात्र ही रसना को रसमय बना देता है और हृदय को विकसित करता है।

यह प्रकृति की शक्ति है। किन्तु उसके रस का पूरा आनन्द लेने के लिए हृदय में भी भावुकता चाहिए। जहाँ प्रकृति हृदय को उल्लसित कर सकती है वहाँ हृदय की ग्राहकता उसको अनुपम छटा प्रदान करती है।

बनालो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौन्दर्य।
चन्द्रिका सा उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदु हास॥

वास्तव मे जब तक अनुकूल ग्राहक पात्र न हों तब तक सौन्दर्य को स्थान कहाँ मिलेगा। यदि हृदय में स्वार्थ भरा है और उसके कारण वह सकुचित बन गया हो तो उसमें सौन्दर्यानुभूति नहीं हो सकती। प्रकृति में सौन्दर्य की कमी नहीं, कमी हमारी ग्राहकता की है।

नील नभ में शोभित विस्तार।
प्रकृति है सुन्दर परम उदार।

नर हृदय परिमित, पूरित स्वार्थ।
बात जँचती कुछ नहीं यथार्थ।

प्रसादजी सकल प्राकृतिक सौन्दर्य को परमात्मा के सौन्दर्य की ही झलक मानते हैं।

लोग प्रिय दर्शन बताते इन्दु को।
देखकर सौन्दर्य के एक विन्दु को।
किन्तु प्रिय दर्शन स्वय सौन्दर्य है।
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है।

और देखिए:—

तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना।
वो देख सकता है चन्द्रिका को।
तुम्हारे हँसने की धुनि में नदियाँ।
निनाद करती ही जा रही हैं॥

उपनिषदों में कहा है कि उसके प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं, उसके ही प्रकाश से सब आलोकमय हैं। 'तमेवभान्तिमनुभाति सर्व तस्य भावा सर्वमिद विभाति'। प्रसादजी की प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना का भी यही आधार है। वे प्रकृति में परमात्मा दर्शन करते हैं। कभी तो उसे वे लीलामय की क्रीड़ा के रूप में देखते हैं और कभी परमात्मा के रहस्य को दुर्भेद्य रखने के लिए अवगुण्ठन रूप मानते हैं।

वृत्त आकृत कु कुमारुण कञ्ज कानन मित्र है।
पूर्व में प्रकटित हुआ यह चरित जिसका चित्र है॥
कल्पना कहती है, कन्दुक है महाशिशु खेल का।
जिसका है खिलवाड़ इस ससार में सब मेल का॥

× × ×

बनके दक्षिण-पौन तुम कलियों से भी हो खेलते।
अलि बने मकरन्द की मीठी झड़ी हो झेलते॥

× × ×

देके उषा पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी।
भाल के कुंकुम-अरुण को दे दिया बिन्दी खरी॥

प्रकृति, रमणी के अवगुण्ठन की भाँति अपने भीतर रहने वाले सौन्दर्य के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा का भाव उत्पन्न कर देती है।

प्रकृति के प्रति यह जिज्ञासा भाव एक प्रकार रहस्य-भावना को जन्म देती है। कामायनी में इस प्रकार के और भी कई स्थल हैं।

महानील इस परम व्योम मे
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते हैं सधान्,
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ?
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?

* * *

सौन्दर्यमयी चञ्चल कृतियाँ,
बनकर रहस्य, हैं नाच रहीं।
मेरी आँखों को रोक वहीं,
आगे बढने मे जाँच रहीं।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह क्या सब छाया उलझन है?
सुन्दरता के इस परदे में,
क्या अन्य धरा कोई धन है?

प्रसादजी की दृष्टि में प्रकृति का महत्त्व केवल परमात्मा की संदेश-वाहिका होने मात्र का नहीं है। वह स्वतन्त्र रूप से भी उनके आकर्षण का विषय है। प्रकृति को भावना का विषय बनाने में प्रायः उनका मानवीकरण भी हो जाता है क्योंकि जहाँ चेष्टाओं का वर्णन होता है वहीं उसमें मानवी भावों का आरोप होने लगता है। प्रसादजी ने प्रकृति को सौम्यरूप में भी देखा है और उसके विकराल रूप में भी। प्रकृति के एक मनोहर रूप का वर्णन :—

रम्य-कानन की छटा तट पर अनोखी देखलो।
शान्त है, कुछ भय नहीं है, कुछ समय तक मत टलो॥
अन्धकार घना भरा है लता और निकुञ्ज में।
चन्द्रिका उज्ज्वल बनाती है उन्हें सुख पुञ्ज में॥

* * * *

पवन-ताड़ित नीर के तरलित तरङ्गों में हिले।
पङ्क, सौरभ-मञ्जु युत ये कञ्ज कैसे हैं खिले ॥
या प्रशान्त विहायसी में शोभते हैं प्रात के।
तारका युग शुभ्र है आलोक पूरण गात के ॥
नीले नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे।
बिना स्वाति-बिन्दु विद्रुम सीप में मोती रहे ॥

प्रकृति के विशालतम सौन्दर्य का यदि वर्णन देखना हो तो कामायनी के रहस्य सर्ग मे हिमालय का वर्णन देखिए —

नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुरधनु माला पहने
कुञ्जर कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने
प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्झर ऐसे
महा श्वेत गजराज गण्ड से
बिखरी मधुधारायें जैसे।

एक विकराल रूप का चित्रण देखिए—

पञ्चभूत का भैरव मिश्रण
शङ्काओं के सकल निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रही ज्यों खोया प्रात
उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आरही फेन उगलतीं
फन फैलाये व्यालों सी
धँसती धरा, धधकती ज्वाला
ज्वालामुखियों के निश्वास,
और सकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास

ऐसे वर्णनों में प्रकृति की मुख्यता रहती है। उसके सामने मानव भयाकुल तुच्छ जीव सा रहता है किन्तु जहाँ प्रकृति का मानव

के सम्बन्ध में वर्णन होता है वहाँ वह गौण हो जाती है। मानव सम्बन्ध में प्रकृति का तीन प्रकार से वर्णन हो सकता है (१) केवल उद्दीपन रूप से (२) मानव सुख-दुख में संवेदना प्रकट करने वाली सहचरी के रूप में (३) मानव क्रिया-कलाप के अनुकूल पृष्ठ भूमि के रूप में।

प्रकृति के उद्दीपन रूप के वर्णनों की हिन्दी-साहित्य में कमी नहीं है। यहाँ पर कामायनी से एक उद्धरण दिया जाता है। देखिए,—

सृष्टि हँसने लगी, आँखो में खिला अनुराग,
राग रंजित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।
और हँसता था, अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ।
चले दोनों, स्वप्न पथ मे स्नेह सबल साथ।
देवदारु निकुञ्ज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गन्ध,
पवन के घन गिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध
शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कान्त।
सोरही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रान्त।
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कान्त।

इसमें उद्दीपन भाव तो है ही उसी के साथ मनु और श्रद्धा की मानसिक दशा की सानुकूलता भी है। शिथिल अलसाई पड़ी छाया में प्रकृति का मानवीकरण भी है। ऐसे वर्णनों में प्रकृति सहानुभूति व्यञ्जित अवश्य रहती है। प्रसादजी ने स्थान-स्थान पर प्रकृति को मनुष्य के साथ-साथ रोती और हँसती भी दिखाया है, किन्तु जायसी की भाँति नहीं। जायसी ने प्रकृति की सहानुभूति को पराकाष्ठा तक पहुँचा कर कुछ अस्वाभाविकता उत्पन्न करदी है।

प्रसादजी ने प्राकृतिक वातावरण को मनुष्य के भावानुकूल चित्रित किया है। ऐसी भावानुकूल पृष्ठ-भूमि चित्र को अधिक सुन्दरता प्रदान करती है। आदि सर्ग में ही देखिए—

दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान।

नीरवता सी शिला चरण से,
टकराता फिरता पवमान।
तरुण तपस्वी सा वह बैठा,
साधन करता सुर श्मशान,
नीचे प्रलय सिन्धु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।
उसी तपस्वी से थे लम्बे,
देवदारु दो चार खड़े,
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर,
बन कर ठिठुरे रहे अड़े।

आशा सर्ग के आरम्भ में ही प्रकृति आशामय रूप धारण कर लेती है और भावी घटना की सूचना सी देने लगती है। श्रद्धा के मिलने के लिए मन को विकास देने वाला वातावरण तैयार हो जाता है।

प्रकृति का मङ्गलमय रूप देखिए—

उषा सुनहले तीर बरसती,
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी,
जल में अन्तर्निहित हुई।

* * *

नव कोमल आलोक बिखरता,
हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय पिंग पराग।
धीरे-धीरे हिम आच्छादन,
हटने लगा धरातल से,
जगीं बनस्पतियाँ अलसाई,
मुख धोती शीतल जल से।

* * *

सिन्धु सेज पर धरा बधू अब
तनिक सकुचित बैठी सी,
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में,
मान किए सी ऐंठी सी।

इस वर्णन की शब्दावली में मङ्गलमय प्रेम और शृङ्गार के भाव मकरन्द की भाँति झरते से दिखाई पड़ते हैं। उषा की सुनहली किरणें समृद्धि की वर्षा-सी करती हैं। जय लक्ष्मी शब्द में विजयोल्लास ही नही वरन् उसके साथ आने वाली सुख सम्पत्ति की भी सूचना है। आलोक भी प्रेम प्रकट करता हुआ हिम को हेम बना देता है और श्वेत सरोजों में मधुमय पीला पराग भर देता है। वनस्पतियों का जगना बडा सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग है। इसमें भाग्य के जागरण की व्यञ्जना है। इसी के साथ वर्षा के पश्चात् पानी के कुछ कम होने पर पानी पर झुकती हुई वनस्पतियों की मुँह धोने की प्रात क्रिया का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित होता है। इसमें थोडा मानवीकरण भी है।

'सिन्धु सेज पर धरा वधू' को सुलाकर विशालता में सौन्दर्य भावना उत्पन्न की गई है। वधू शब्द में भी एक भावी वधू के आने की और पीछे से उसके मान की सूचना मिल जाती है। इसी के साथ मानवती बनाकर उसकी शोभा को भी बढ़ा दिया है। संकुचित और ऐंठी में अभिधा और लक्षणा का बडा सुन्दर सहयोग है। जल से डूबी हुई जो वस्तुएँ निकलती हैं वे कुछ दबी सी और ऐंठी होती हैं। पृथ्वी के पक्ष में अभिधार्थ है और वधू के पक्ष में लाक्षणिक अर्थ है। इसमें 'सी' उपमा वाचक लग जाने से मानवीकरण होते-होते बच गया है।

प्रसादजी में प्रकृति के शुद्ध मानवीकरण की कमी नहीं है। हमको उनके प्राकृतिक चित्रों में मानवी कार्यों का आरोप स्थान-स्थान पर मिलता है। देखिए—

अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी
× × ×
लो यह कलिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

प्रसादजी की छायावादी प्रवृत्तियाँ उनकी किरण शीर्षक कविता में बड़ी स्पष्ट रूपरेखा में दिखाई पडती हैं। इसमें प्रकृति मानवीकरण के साथ छायावाद शैली का नमूना मिलता है, देखिए—

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।

प्रसादजी की भाषा

कवि अपना कवि कर्म करता हुआ भाषा से सम्बद्ध हो जाता है। उसका काव्य भाषा बनकर उद्गारित होने लगता है। इस उद्गार पर उसकी अपनी अभिव्यक्ति का भार होता है। भाषा अथवा उद्गार यद्यपि उसके सम्पूर्ण अन्तरत्व को प्रकाश नहीं करती और उसमें जो कुछ प्रकट है वह भी उसकी सम्पूर्णता नहीं—वह सब तो उसके अपने अन्तर-विराट के स्फुलिंगों की धारा मात्र है। फिर भी वह अन्तरत्व के लिए ही है। जहाँ कवि केवल इस स्फुलिंग धारण को दिखाने के लिए अन्तर-वह्नि को जागरित करता है, और जहाँ वह अन्तर-वह्नि को प्रबल उद्दीप्ति से विवश हो भाषा स्फुलिंगों को रोक नहीं सकता। इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर है—दूसरी अवस्था में कवि का अन्तर ठीक अनुवादित हो रहा है। पहली अवस्था में छद्म कवि में आ जाता है।

कवि के पास भाषा संकेतों के अतिरिक्त और कोई साधन निजी भाव विनिमय का नहीं। भाषा वह माध्यम है जो उसको जानने वाले व्यक्तियों के मानस धरातल को एक कोटि में लाकर रख देता है। कवि इसी साधन को जितनी कुशलता से काम में लाना जानता है, उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति ऊँची होती है, उतना ही वह सौन्दर्य का दर्शन कराने में अधिक सफल होता है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक भाषा के विभिन्न वर्ग होते हैं। उसकी सीढ़ियाँ होती हैं—और उसका सबसे निचला डण्डा वहाँ होता है जहाँ केवल अपनी आवश्यकताओं भर से घिरा हुआ अभावुक मानस अपना दैनिक व्यापार-सम्पादन करता है और अपने तन्मात्र अस्तित्व से आगे मानस का विस्तार करना ही नहीं जानता और उसका सबसे ऊपरला डण्डा वहाँ होता है जहाँ कला विलासी मनुष्य इस जगत-जीवन के सारे भू: भुव:—तल और अन्तरिक्ष को आत्म-सात करता हुआ स्व: रहस्य लोक

में झाँकने लगता है और वही वह सीढ़ी अपनी शक्ति की ऊँचाई की पराकाष्ठा के छोर पर पहुँचा कर उस विराट अन्तर्लोक में अपनी असमर्थता और क्षुद्रता अनुभव करती है, वहीं पहुँच कर मनुष्य और ऊपर उठने की चेष्टा करता प्रतीत होता है और उस सीढ़ी में कुछ और वृद्धि करने में भी लगता है—एक ही वस्तु की तारतम्यात्मक अवस्था होते हुए भी प्रथम और अन्तिम अवस्थाओं में पाताल और आकाश का अन्तर है—और इन दोनों ओर-छोर के बीच कितनी ही क्रमागत अवस्थायें हैं—और एक ही कार्य में जैसे-जैसे वह मानस मेधा में व्यवहार व्यापार की अपनी अन्तिम श्रेणी से उत्तरोत्तर ऊपर उठता चलता है, उसका मानस-क्षेत्र अधिकाधिक प्रकाश से प्रोद्भासित होता हुआ क्रमागत कला-विलास, सौन्दर्य और शिल्प के सत्य का दर्शन करता चलता है। वह भाषा की भी वैसी ही सीढ़ियाँ चढ़ता चलता है।

प्रसादजी ने जिस अन्तरिक्ष में पहुँचकर ऊँचा झाँकते-झाँकते अपने कवि-कर्म की इति घोषित की है वहाँ से नीचे देखने पर यद्यपि गहराई बहुत अधिक दीखती है, पर उन्होंने डण्डे बहुत कम उल्लङ्घन किये हैं। कारण यह है कि प्रकृति स्थिति ने उन्हें भाषा की बहुत उच्च कक्षा में आरम्भ से ही पहुँचा दिया था। उनकी सस्कृत मनोवृत्ति ने चुनी, सुघर और सुकर भाषा को आरम्भ से ही अपना माध्यम चुना। ऐसा केवल हम उसी भाषा के सम्बन्ध में कह रहे हैं जो उनकी अपनी भाषा है। यों तो सबसे पहले जिसमें लिखा वह भारतेन्दु खेवे की भाषा थी—वह व्रजभाषा कही गई थी, उसमें प्रसादजी ने कवितायें की और अनुभव किया कि वह उनके लिए विभाषा है। उसको उन्होंने त्याग ही नही दिया, वरन् अपनी पूर्व व्रजभाषा कृतियों का दूसरा सस्करण उन्होंने अपनी निजी भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित करा दिया। प्रेम-पथिक इसका उदाहरण है, जिसके प्रथम संस्करण के निवेदन में कवि ने लिखा है—

"केवल इतना कह देना अधिक न होगा कि यह काव्य व्रज-भाषा में आठ वर्ष पहले लिखा था, यह, उसी का परिवर्तित, परिवर्द्धित तुकान्त-विहीन हिन्दी रूप है।"—और वह हिन्दी व्रजभाषा से भिन्न उनकी अपनी भाषा है। यद्यपि उन्होंने इसको यह रूप देने का कारण दिया नही पर वह इतना स्पष्ट इतना नंगा है कि न कहना

ही ठीक था—और इस प्रेम पथिक की आरम्भिक पंक्तियों में हम क्या देखते हैं—

सन्ध्या की, हेमाभ तपन के, किरणें जिसको छूती हैं
रञ्जित है देखो जिस नई चमेली की मृदु से

और यहीं से यदि उनका आरम्भ माने तो भाषा की निचली सीढ़ी कितनी गहराई में दीखती है—इतने ऊँचे धरातल से कवि ने आरम्भ किया और ऊँचा उठाने की चेष्टा की। उसे अब भाषा मिल गई थी और वह कवि-कर्म में अपने मनोनुकूल संलग्न हुआ।

उसने 'कामायनी' में आकर अपनी कवि-वाणी को विश्रान्ति दी—और यहाँ तक भाषा को भी वह उठा ले गया।

भाषा और भाव का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं कि विना भाषा के भाव और विना भाव के भाषा अपना अस्तित्व नहीं रख सकते—इससे भी आगे इसका अर्थ यह भी है कि भाव के अनुकूल भाषा बनती है और भाषा के अनुकूल भावों की सृष्टि होती है और एक अपने साथ दूसरे को ऊपर उठाने की चेष्टा करता है। किन्तु हर काल में ऐसी अवस्था नहीं रहती। कभी भावों का ऐसा विपुल जागरण होता है, कभी भाव वस्त्रों की भाँति एक के ऊपर एक ऐसे उच्च स्थित होते चले आते हैं कि उस तुमुल में भाषा शान्त हो जाती है। वह जो कुछ कहना चाहती है, केवल संकेत-विन्दु-मात्र का रूप धारण कर कहती है—वह तब पूर्ण को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती। वह उसको अपनी अशक्त अपूर्णता के साथ केवल ध्वनित करती है—तब अर्थ वाच्य से काम अधिक हो जाता है—किन्तु इससे पूर्व कवि में वह अवस्था मिलती है जहाँ भाव से अधिक भाषा का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में कवि जितने भी भाव लाता है वे शब्दमय होते हैं। एक एक भाव के जितने भी अधिक से अधिक शब्द हो सकते हैं उतने शब्दों में व्यक्त होता है। तब कवि बजाता अधिक है गाता कम है। वह हृदय का रस शब्दों में कम उँडेल पाता है—शब्दों के रस को ही उलटा हृदय में उँडेलना चाहता है। प्रसादजी के साथ इन दोनों में से कोई भी बात नहीं लगती।

उनमें हमें आरम्भ से ही विशिष्ट गम्भीरता मिलती है। उनकी

भाषा की भँवें भीषण आवेगावस्था में भी विकृत नहीं होती, यों एक-आध कम हो जाने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं—किन्तु वह चञ्चलता हास्य, क्रोध, करुणा, भाषा में खिलखिलाहट अथवा विकलता की उद्भावना एक प्रकार से शून्य ही है।—एक मन्थर गति का विधान—एक अन्तर स्थिरता की जमी हुई जड़—अडिग और अचल सुमेरु सी आदि से अन्त तक के काव्यों में हमें मिलती है।

ऐसी अवस्था में केवल शब्द सौन्दर्य के वाह्य-उपकरणों का विकास प्रसादजी में नहीं मिलेगा। प्रेम पथिक की भाषा और भाव की सयोजना में निस्सन्देह शब्दों का आवरण गहरा अवश्य है किन्तु उस मूर्त गम्भीरता के कारण वे दिवालिया नहीं लगते। तर्क-विहीनता ने उस दरिद्रता का विभ्राट और भी नहीं होने दिया। करुणा-स्थल प्रेम पथिक में आया है—

फिर तो चारों दृग आँसू चौधारे लगे बहाने। हो
सचमुच ऐसा करुण दृश्य करुणानिधि को भाता
कृपा नाव क्या उनकी इस सागर में तैरा करती
किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ह
करे प्रशंसा किन्तु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रा
और प्रेम, करुणा, गङ्गा-यमुना की धारा बही नहीं

× × × ×

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आँसू के बूँद
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हें पहिचान स
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर दुःखी के परम उपाय

न पंक्तियों की भाषा उतार-चढाव शून्य है। करुणा के चित्र का व्यङ्ग्य इसमें अवश्य है। आँसू की उक्ति में कितनी विशद भावुक कल्पना है, पर वह उतनी वाच्य नहीं, शब्दों ने अपनी भङ्गिमा से कुछ नहीं कहना चाहा जो कुछ उन्हें कहना हुआ है वह ध्वनि से कहा है। शब्द एकरस शान्ति से वाक्य के आरम्भ से अन्त तक हैं। दुखी उच्छ्वासों का भौतिक शब्दानुवाद इन पंक्तियों में नहीं—और वह कवि में कहीं भी नहीं। जहाँ थोड़ा बहुत ऐसा विकलत्व कवि ने दिखाना पसन्द किया है वहाँ भाषा की अपेक्षा, आरम्भिक अवस्था में छन्द की गति के उद्वेलन से प्राप्त किया है। लहर में सङ्कलित 'प्रलय

की छाया', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' को देखकर यह जाना जा सकता है। उनमें कुछ विकलत्व है, वह छन्द की गति के क्षोभ के कारण है। प्रसादजी की भाषा प्रिय-प्रवास के कवि के कङ्कड़-पत्थरों से भी हिम-स्राव सी भाषा नही, गुप्तजी की भाषा की सागर-वीचियों के फेनिल उद्वर्तन का भी यहाँ अभाव है, पन्तजी की वह नवनीत मधुर सङ्गीतस्वरता भी प्रसादजी में नही। प्रसादजी में भाषा का अनूठा हेमोज्ज्वल सुकरत्व है।

पर कोई कह सकता है कि भावो के अनुकूल समस्वरित भाषा न हो तो यह भाषा का दोष है। भाषा-उद्वेग चित्रों को यदि अपने निजी विकारों से प्रकट कर सकती है तो वह सोने मे सुगन्ध के समान काव्य और कवि के उत्कर्ष को बढाती है। यह लोच और चोज, भाषा की जान है—और प्रसादजी की भाषा इस दृष्टि से खरी नही कही जा सकती। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा कवि शब्दों की आत्मा से परिचित नहीं। यह भी सन्देह किया जा सकता है कि ऐसा कवि कभी अपने काव्य को अभिव्यक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक बना सकता है?

भाषा सौन्दर्य का जब तक मौलिक ज्ञान न हो तब तक इन प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं मिल सकता। भाषा प्रत्येक व्यक्ति के साथ परिवर्तित होती है। जिसमे जितनी अधिक प्रधान उसके निजी व्यक्तित्व की प्रेरणा होती है उतनी अधिक उसकी भाषा में अन्य व्यक्तियों से भिन्नता होती है—

यह वैयक्तिक भिन्नता, संक्षेप मे ऊपर बतायी जा चुकी है। किन्तु इस भिन्नता के साथ प्रत्येक कवि में उसकी भाषा के सौन्दर्य का भी एक अन्तर-रूप उपस्थित रहता है। प्रसादजी ने 'झरना' से कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार लिखी हैं—

सरसों के पीले कागज पर बसन्त की आज्ञा पाकर।
गिरा दिये वृक्षों ने सारे पत्ते अपने तुतला कर॥
खड़े देखते रहे नये कोमल किसलय की आशा में।
परिमल पूरित पवन-कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में॥
अतल सिन्धु में लगा-लगा कर, जीवन की वेड़ी बाजी।
व्यर्थ लगाने को दुब्बी दाँ, होगा कौन भला राजी॥

मिले नहीं जो वाञ्छित मुक्ता अपना कण्ठ सजाने को।
अपना गला कौन देगा यों, बस केवल मर जाने को॥
मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे।
फिर खिकसेगी उजड़ी क्यारी, क्या गुलाब की यह मेरे॥
कभी चहलकदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईंबाग बना लोगे प्रिय! इस मन को आकर॥
(झरना में 'पाई बाग'।)

इस कविता की भाषा में क्या है? विन्यास में मर्म को छूने की चेष्टा है और कुछ शब्दों को टटोलने का उद्योग। विन्यास गठित और संस्कृत है। शब्दों में कवि सौन्दर्य ढूँढ़ने में लगा हुआ है। तभी कभी कवि कहता है—

'परिमल पूरित पवन कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में'—और कहीं कहता है, 'कभी चहल कदमी करने को काँटों का कुछ ध्यान न कर'—ऐसी चहल कदमी कवि में बहुत कम है। उसने शब्दों के सौष्ठव को ढूँढा और तब वह संभवतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शुद्धता वाञ्छनीय है, शुद्धता भी तपे हुए सोने की। उसने फिर ढले हुए शब्दों का ही प्रयोग किया। इस सहज शुद्धता के सौन्दर्य की वृद्धि कवि के एक और भाषा सिद्धान्त पर निर्भर करती है। भाषा में शब्द सम्बन्धता दो प्रकार की होती है, एक शब्दानुवर्तिनी और दूसरी भावानुवर्तिनी। जहाँ शब्द, शब्द से अपने आप जुड़े वहाँ शब्दानुवर्तिनी सम्बद्धता होगी। इसके लिए पदावली समास प्रणाली की संश्लिष्ट योजना का सहकार लेती है। 'विश्व-मधु ऋतु के कुसुम विलास' लहर, पृष्ठ १६ में प्रसादजी ने उसी शब्दानुवर्तिनी सम्बद्धता का सहारा लिया। इस प्रकार की घनिष्ठता भाषा सौष्ठव और सौन्दर्य को भाराक्रान्त कर देती है। शब्द अपने प्रयास से एक विशेष प्रकार के भाव को खींच कर लाना चाहते हैं और सहजत्व में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। कुछ कवि तो प्राचीन संस्कृतानुकरण पर ऐसे-ऐसे वाक्य लिख देते हैं—'रूपोद्यानप्रफुल्लप्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना'। प्रसादजी ने इस सिद्धान्त को नहीं माना। भावानुवर्तिनी घनिष्ठता उन्होंने अपनायी है। इसमें भावों की प्रवाहित धारा में शब्द, विशिष्ट मणिकाओं से, एक दूसरे से अपने उद्गारों को मिलाये

प्रतीत होते हैं। मिलित और समस्त पद इसमें नहीं। इस सिद्धान्त से भाषा में एक स्वाभाविकता आ जाती है। वह शुद्धता, जो अन्यथा संस्कृताश्रयी होकर एक जटिलता उत्पन्न करती है और सौन्दर्य को विकृत करती। इस सहजता से खिंचकर स्फूर्तिप्रद हो गयी है—

जीवन की अविराम साधना
भर उत्साह खड़ी थी,
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी
गहरे लौट पड़ी थी।

—कामायनी, पृष्ठ १०६

* * *

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह!

—कामायनी, पृष्ठ ३

इस शुद्ध स्फूर्ति के साथ भाषा-सौन्दर्य का प्राण 'करुणा' है। रस की करुणा नहीं, भाषा की करुणा। रस की करुणा तो विशेष भावोत्पादन पर आश्रित है, उसका स्थायीभाव होता है करुणा। किन्तु भाव चाहे कैसे ही हों संगीत स्वर लहरी में कुछ विशिष्ट स्वरों का आगम और विशेष के निषेध जैसे एक करुणा-लहरी की लय नर्तन कर उठती है, उसी प्रकार भाषा-विकास में भावों से मुक्त भी एक करुणा ऐसे ही मिलती है जैसे प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण मिलते हैं। इस प्रकार कवि ने स्वतः भाषा को हृदय के मूल काव्य रस के पास पहुँचा देने का प्रयत्न किया है—उसका सौन्दर्य कितना अभूत हो चला है—वह कहता है—

अधर में वह अधरों की प्यास
नयन में दर्शन का विश्वास,

× × ×

छूटते जिससे सब बन्धन
स्वास-सीकर से जीवन कन। —लहर, पृष्ठ २१

झील में झाईं पड़ती थी,
श्याम-बनशाली तट की कान्त
चन्द्रमा नभ में हँसता था,
बज रही थी बीणा अश्रान्त ॥
तृप्ति में आशा बढ़ती थी,
चन्द्रिका में मिलता था ध्वान्त ।
गगन में सुमन खिल रहे थे,
मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त ॥

—झरना, पृ० ७१

झरना के उद्धरण में कवि में भाषा-चैतन्य की कमी है। शब्द आये हैं, बस वे आ गये हैं—किन्तु फिर भी उनके विन्यास में कवि करुणा बैठाये हुए है। यह भाषा का कारुण्य उनके नाटक के गीतों में भी विद्यमान है, और कामायनी में तो बहुत ही प्रस्फुट है—

कौन हो तुम विश्व माया कुहुक सी साकार
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार!
हृदय जिसकी कान्त छाया में लिये विश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश!

—कामा० पृ० ६०

भाव आश्चर्योल्लास से पूर्ण हैं पर भाषा करुण है। भाषा पर इस करुण पालिश के सुकरत्व को हम कुछ समझ पाते हैं। वे इतने ऊँचे धरातल पर हैं कि साधारण भाव-भंगिमाओं के लिए उन्हें विशेष भाषा-व्याहन करने की, उसमे अधिक उतार चढ़ाव करने की आवश्यकता नही। वे रूढि-भुक्त रस के अभिव्यक्ता नही। उन परिपाटियों के नव अर्थकार हैं। वे सौन्दर्य के साक्षात्कारक हैं और जिस सौन्दर्य का उन्होंने दर्शन किया है वह स्निग्ध और अभूत तथा अमूर्त है। उसकी कल्पना करुण रहस्य से मण्डित और संस्कृत है—उसमें स्फूर्ति भी है। इसी के अनुरूप इनकी भाषा है जो अनुद्वेलित करुण इङ्गितों का एक श्लिष्ट मण्डल तय्यार करती है—उसी में उनकी कल्पना उतरती है।

करुण-भाषा की स्फूर्तिप्रद तूलिका से, ऐसा नही कि उन्होंने मूर्त चित्र उपस्थित ही नही किये। उनके उपस्थित मूर्त-चित्रों की रेखायें इतनी गहरी और उभरी नही कि साधारण दृष्टि में दीख जायँ भावों के जिस स्निग्ध लोक के निस्पन्दन दृश्य कवि ने उतारे हैं उनमें प्रतीक

सी अपनी सत्ता को लय किये हुए उनकी भाषा की मूर्त-चित्रना है। वह उस पेन्सिल चित्र की रेखाओं के समकक्ष है जिसमें एक अङ्कन ही अपनी परम्परा सब रेखाओं में बनाये हुए ऊँचाई-गहराई, गोलाई, लम्बाई, चौडाई का विस्पष्ट रूप निर्दिष्ट करता है, और जिसमें ये सब परिमितियाँ किसी भाव-जागरण को प्रधानता देने के कारण गहराई से अपना महत्त्व घोषित नहीं करतीं, जैसे अपना ऐक्य समर्पण कर स्वतः भाव बन गयी हों। तुलसीदासजी ने जब कहा—

उटति ऊर्म्मि अति गुर्व्वि सब्ब पव्वै समुद्र सर,

और इस प्रकार समुद्र का और पृथ्वी का चांचल्य अर्थ और शब्द दोनों से समान हुआ। इसमें मूल शब्दों की हिलकोर से उग्र रेखाओं का चित्र उतरता है, कवि का भाव भी वहाँ उद्दण्ड है। प्रसाद जी ने अपने काव्य में इन तूफानों की जहाँ सृष्टि की है वहाँ मूर्त ऐन्द्रिकता के सहारे नहीं की वरन भावेन्द्रिकता के सहारे की है। उर्म्मि गुर्व्वि पव्वै आदि से कण कुहरों में जो सघर्ष होता है उसका अर्थ उद्वेलन लगता है। प्रसादजी ने अपनी भाषा में इसे बचा दिया। वे जब लिखते हैं—

चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज—

सरल हँसमुख विधु जलद लघु खड वाहन साज।

इन पंक्तियों से किसी के आने के शब्दों का जो मूर्त चित्र उपस्थित होता है वह बहुत पूर्ण और सफल है। किन्तु मूर्त ऐन्द्रिकता नहीं, भावेन्द्रिकता है। प्रत्येक शब्द अपने ध्वनि सङ्घर्ष से नहीं वरन् भाव-सङ्घर्ष से अपना एक रूप स्थिर करता है। 'सरल हँसमुख विधु जलद लघु खड वाहन साज'—इसमें सब शब्द अपने अर्थ-भाव के साथ अपने रूप के भावों को भी जागृत करते हैं। उनसे जो मूर्त रूप आता है उसमें अर्थभाव भरकर कल्पना को विशद और सजीव कर देते हैं। 'ऊर्म्मि' शब्द से जो कर्ण-सङ्घर्ष से ऊँचाई नीचाई की मूर्त ऐन्द्रिकता का चित्र उपस्थित होता है, उसमें ऊर्म्मि का अर्थ 'पृथ्वी' कहीं समाता नहीं। यहाँ भावेन्द्रिकता नहीं हो सकती जैसी प्रसादजी की पंक्ति में है। अतः कवि भाषा को बहुत ऊंचा उठा ले गया है—उसकी भाषा भावुकता के साथ और ऊपर झाँकने को प्रस्तुत है। अपना सौन्दर्य उसने सँवारा है कि और ऊँचे सौन्दर्य की ओर चले, पर कलाकार की आँख उससे भी बड़े कलाकार ने बन्द करदी।

प्रसादजी के छन्द



वाक्य भाव की भाषा है तो छन्द वाक्य की भाषा है। प्रसाद जैसा कवि केवल भावोद्वेगों को उद्गार करने के लिए नही, वह रस अथवा सौष्ठव मात्र उपस्थित नही करना चाहता है, वह सस्कृति और सौन्दर्य अथवा सस्कृत सौन्दर्य को झाँकने वाला है। उसने उसे देख लिया है, इसीलिए एक भावुक भक्त की भाँति सौन्दर्य के आवाहन के सस्कार के प्रत्येक बेर को शबरी की भाँति चखकर सुरुचि के साथ बडी भयकातरता किन्तु आत्म-विश्वास के साथ रखता है। उन्होंने अपना ज्ञान और पाण्डित्य नही प्रकट किया। विविध छन्दों का उन्होंने उपयोग किया है, किन्तु इस बात पर एक बार अविश्वास किया जा सकता है कि उन्होंने छन्द शास्त्र को कभी महत्त्व दिया था, उसका यथाविधि अध्ययन भी किया। यह इसलिए नही कि उन्होंने जो छन्द लिखे वह शास्त्रानुकूल नहीं, वे सभी शास्त्र प्रतिपादित हैं; बस उनमें शास्त्रीयता नही मिलती। प्रसाद सहज स्रष्टा प्रतीत होते हैं—उन्होंने जितने भी छन्द लिखे हैं उन सब में उन्होंने काव्य के सौन्दर्य की पात्रता मात्र देखी है। उस पात्रता के लिए स्वर सङ्गीत एक आवश्यक तत्त्व उन्होंने समझा है। स्वर-सङ्गीत का अर्थ शब्दों की सुगीतिता नही, जैसी पन्त में है। इसका अर्थ कोमल सुचारु वर्णों का चेतन प्रयोग भी नही, न इसका अर्थ सङ्गीत की लय गति है। इसका अर्थ है अक्षरों के स्वरों का एक दूसरे में द्रवित होते चले जाना। इस प्रकार छन्द में द्रवित स्वरों का प्रवाह है जिससे एक सङ्गीत स्वयं प्रवाहित होने लगता है—इसी के अनुकूल उन्होंने छन्दों का चयन किया है।

'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया'—

साकेत के इन चरणों में सङ्गीत है किन्तु इन पंक्तियों को देखिए—

तू बढ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना।
सोने वाले जाकर देखे, अपने सुख का सपना॥

—लहर पृ० ५१

इनमें स्वर सङ्गीत है। छन्द के स्वर बहे-बहे एक चरण से दूसरे में अपनी लय को तिरोहित कर आगे को उद्बुद्ध करते हैं। दोनों के सङ्गीत का सिद्धान्त अलग-अलग है। यह स्वर-सङ्गीत प्रसादजी के प्रत्येक काव्य के अन्तर में प्रवाहित है। यह शब्दों के कारण नहीं वरन् छन्दों के स्वभाव के कारण है।

उन्होंने छन्द कितने ही प्रकार के लिखे हैं, 'झरना' जैसे संग्रह मे ४८ छोटी-छोटी कविताएँ हैं; और प्राय प्रत्येक कविता एक नये छन्द मे लिखी गई है—किन्तु नया छन्द लिखा गया इस ज्ञान से कि वह भिन्न जाति का हो और बस; उन्होंने यह कभी नहीं जाना कि कौनसा छन्द लिखा जा रहा है। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक शास्त्र निर्णीत विभिन्न छन्दों को मिला कर अपने लिए एक रचना की है।

'झरना' में झरना नाम की पहली कविता का एक छन्द शास्त्र-पथा विरुद्ध छः चरणों का है—

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी।
न है उत्पात; छटा है छहरी॥
मनोहर झरना
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी॥

प्रथम दो चरण १७-१७ मात्रा के हैं। तीसरा ६ मात्राओं का है। चौथा फिर १७ मात्राओं का है। पाँचवाँ भी ऐसा ही है। छठा तो टेक की भाँति सबसे ऊपर के चरण की दुहरावट है। १७ मात्राओं वाले चरण में ८ और ६ पर यति है किन्तु यह यति का नियम व्यापक नहीं। कवि ने इसे आवश्यक नहीं समझा। हाँ, जहाँ यह रहा है वहाँ चरण अपनी गति में सधा और सुन्दर रहा है।

अन्तिम यतिकाल की मात्रा का चरण तीसरा है। इस प्रकार छन्द में सङ्गीत पैदा किया गया है। प्राचीन पिङ्गलों में ऐसा छन्द नहीं मिलेगा। कवि ने अपनी शक्तिशाली रचना से प्राचीन छन्द परिपाटी की जड में अपनी दृष्टि डाल दी है। वे इसी कारण नव छन्द रचना के मूलाधार हुए काव्य और भाव का ही नया रूप उन्होंने नही उतारा किन्तु छन्द का भी नया रूप उपस्थित किया। स्वर-सङ्गीत वाला कवि तुक को गर्हित नही समझता तो उसके लिए प्राण भी नही देता। प्रसादजी तुकों की अवहेलना नही करते उन्हे केवल और सिद्धान्त पर लाने के पक्ष में हैं। वे उन्हे आवश्यक नही समझते और यही दिखलाने के लिए उन्होंने कई रचनाएँ तुकविहीन की—

वीणे! पञ्चम स्वर में बजकर मधुर मधु
बरसा दे तू स्वय विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भागे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में।

किन्तु छन्द जीवन को ललित बनाने के लिए उसे उपयोगी समझा है और जब वे एक स्थिर महाकाव्य लिखने बैठे तो उसमें किसी छन्द को अतुक नही रख सके, यद्यपि तुक का नियम अपनी रुचि के अनुकूल हो कही भले ही रखा हो। तुकहीन रचनाएँ दो प्रकार की हैं—एक तो ऊपर जैसी हिन्दी की शैली की, जिसमें छन्द की गति निश्चित मात्रा के मार्ग से हुई है, अथवा इसी के थोड़े हेर-फेर से विशेष सङ्गीताधीन किये हुए छन्द के द्वारा जैसा झरना के पहले छन्द में मिलता है। दूसरी शैली में कवि ने मात्रा विधान को स्थान नहीं रखा। भावों की माप के अनुकूल नाद स्फोट और लय विराम के सिद्धान्त पर—

जैसे—'प्रलय की छाया' में—

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की,
सन्ध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में।

और उस दिन तो—

निर्जन की जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रँगरलियाँ

× × × ×

"आँखें खुलीं,
देखा मैंने चरणों में लोटती थी
विश्व की विभव-राशि,
और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी !
वह एक सन्ध्या थी !"

इसमें किसी चरण की मात्रा निश्चित नहीं। प्रत्येक चरण प्राय. भिन्न मात्रा का है, जहाँ दो चरणों में मात्र सन्तुलन है, वह इसलिए है कि उन दोनों में भाव सन्तुलन भी है। भाव के अनुकूल उसके विस्तार के साथ छन्द के चरणों का नियमन हुआ है, इसमें इसके साथ-साथ एक गहरी स्वर धारा समवेत है। वही नाद स्फोट और लय विराम से इस काव्य के छन्द को छन्द बनाये हुए हैं। हम एक स्वर धारा में पढना आरम्भ करते हैं—

आँखें खुली—और अन्तिम स्थल पर एक भाव पूर्ण होता है किन्तु लय विराम नहीं। इसलिए स्वर का नाद स्फोट उसे चरण बनाता है। वह स्वर-धारा किन्तु आगे बढ़ती ही जाती है। 'थी' और 'राशि' पर नाद स्फोट के कगारों को उलट्ते-उलट्ते न केवल भाव उग्र होते हैं लय भी तीव्र होती है—

और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी—और यहाँ लय विराम पाता है। इस प्रकार इस छन्द का विधान हुआ है। इन सब में स्वर-धारा को बाँधे रखने वाला छन्द हिन्दी का 'कवित्त' अथवा 'मनहरण' है। यह कवि ने ऊपर की सबसे पहली दो पंक्तियों से ही प्रकट कर दिया है, और सारा छन्द जिसे हिन्दी में कभी केंचुआ कभी रबड छन्द बतलाया गया था, केवल उसी अति-प्रचलित कवित्त की प्रयोग भिन्नता थी। उसी कवित्त के चरणों तथा चरणार्द्धों को भावानुरूप नाद-स्फोटों तथा लय-विरामों से सजाकर नये रूप में उपस्थित कर दिया। इससे कवि की सृजन की मौलिकता का कितना असन्दिग्ध पता मिलता है।

तो जब तक कवि छोटे-छोटे उद्गारों को छोटी-छोटी भाषा में बाँधता रहा उसने ये प्रयोग किये, आगे बढ़ते ही जैसे उसने महाकाव्य की रचना की रूप-रेखा खड़ी की, उसने वे सब प्रयोग करना छोड़ दिया और वह अपने विधान में छन्दों के प्रयोगात्मक महत्त्व को

छोड़, सिद्ध रूप को लेकर चलने के लिए प्रस्तुत हुआ वहाँ भी वह कम स्रष्टा नही, किन्तु वहाँ वह इतना गम्भीर हो गया है कि उसके प्रयोगों में जो उतावलापन दीखता है, वह छोड़ दिया है।

कामायनी के छन्द प्राय: ३०–३२ और २४ मात्राओं और इसके १६, १६, १६, १५, १६, १४ वाले भेदों के अन्तर्गत ही आते हैं—कामायनी का आरम्भ १६–१५ मात्राओं के वीर छन्द से होता है। यह वीर छन्द तो कवि ने रखा है किन्तु १६ का एक चरण और १५ का दूसरा चरण बनाकर साधारणत: जहाँ यति होती वहाँ चरण पूर्ति मान कर 'वीर छन्द' का रूप बदल दिया है। इस प्रथम 'चिन्ता' के अध्याय में 'वीर छन्द' के बीच में 'ककुभ' के समकक्ष १६, १४, के यति पर चरणपूर्ति वाला छन्द लिखा गया है, जिसके अन्त में दो गुरुओं का नियम नही रखा गया है। 'आशा' में भी ऐसे ही छन्दों का प्रयोग है। 'श्रद्धा पटल' में छन्द बदल कर १६–१६ मात्राओं के चरणों के हो जाते हैं। यह 'शृङ्गार' नामक छन्द है। इसके अन्त में ऽ। होता है।

कौन तुम ससृति-जलनिधि नीर
तरङ्गों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?

इसमें कही-कही ऽ। के स्थान पर अन्त में ऽ भी कर दिया गया है—यथा:—

तरल आकाक्षा से है भरा
सो रहा आकाश का आह्लाद।

फिर 'काम' में यह छन्द 'पद पदाकुलक' हो जाता है। यह १६ मात्राओं का छन्द है जिसके अन्त में ऽ होता है।

वासना में रूपमाला छन्द का उपयोग है। यह छन्द १४, १० के यति से अन्त में ऽ। के साथ होता है। 'लज्जा' में फिर पद-पादाकुलक है। 'कर्म' में 'सार' छन्द के समकक्ष, १६, १२ की यति का नही वरन् चरण-पूर्त्ति का छन्द है।

कर्म सूत्र सकेत सदृश थी
सोम लता तब मनु को;

चढ़ी शिंजिनी-सी, खींचा फिर
उसने जीवन धनु को।

कहीं पर यह १६, १२ का न होकर १४-१४ का भी कर दिया गया है—

कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;

'ईर्षा' मे कवि ने दो विभिन्न छन्दों के चरणों से एक मिश्र छन्द बनाया है—

पल भर की उस चञ्चलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार।

इसमें पहला चरण १६ मात्रा का पद-पादाकुलक है और दूसरा १६ का पद्धरि है।

'इड़ा' मे गीति पदों को स्थान दिया गया है, किन्तु वह भी १६ मात्राओं के चरणों का द्वित्त्व मात्र है। टेक १६ की ही है।

'स्वप्न' मे फिर १६, १४ का ककुभ के सदृश एक छन्द है, पर इसमें यति को ही चरण-पूर्ति नहीं माना गया।

'संघर्ष' में रोला या काव्य-छन्द है, यह २४ मात्रा ११–१३ की यति से ही होता है। 'निर्वेद' मे ककुभ सदृश छन्द है। 'दर्शन' मे 'पादाकुलक' है, १६ मात्रा और अन्त में ऽ। होता है। इसमें कवि ने छः चरण रखे हैं। इसमें पहला चरण पूर्व का प्रसिद्ध छन्द चौपाई है, दूसरे चरण की जगह कहीं 'दिक्पाल' है—जैसे

'आत्म-रुद्ध करने वाले हम
कहीं 'अग्नि' जैसे
शून्य पवन बन पंख हमारे—

जैसे छन्दों के चरणों का भी मेल मिला दिया गया है।

'आनन्द', 'सखी' छन्द में है, जो १४ मात्रा का होता है।

इतने छन्दों में यह कामायनी समाप्त की गई है।

सब छन्दों में भावानुरूपता है। प्रसादजी वस्तुतः गीति-काव्य के कवि हैं। 'Lyrics' में जिस प्रकार उद्गारों का सौन्दर्य सुकोमल और करुण कलेवर में प्रकट होता है, वही बात प्रसाद के छन्दों में

भी है। 'कामायनी' जैसा महाकाव्य भी उस गीत-काव्य आत्मा से खिल उठा है। वह उसमें भी व्याप्त है। उसमें गीत-काव्य का स्वरूप तो नहीं रहा, आत्मा ही है। इस प्रकार कवि ने गीति-काव्य की ओर भी हिन्दी को आकर्षित किया। प्रसादजी भारत के सच्चे सपूत थे। उन्होंने काव्य जगत में भावात्मक क्रान्ति भी की और रूपात्मक भी। उन्होंने सस्कृति का बहुत मूल्य रखा है और उनके छन्दों का सुकरत्व भी संस्कृति का परिचय देने वाला तथा भावानुरूप है।

